'दलित मुक्ति संघर्ष की क्रांतिकारी दिशा क्या हो!'

जन संघर्ष मंच हरियाणा द्वारा उक्त विषय पर 4 फरवरी 2018 को पटवार भवन कैथल में आयोजित विचार गोष्ठी में बहस के लिए एक पर्चा प्रस्तुत किया गया था, पर्चे पर चर्चा-परिचर्चा एवं आलोचना को समेटते हुए 14 मार्च, 2018 को फिर एक विस्तृत पर्चा अंदरूनी बहस के लिए तैयार किया गया था जिसे अन्य एक-दो संगठनों के साथियों को भी इस अपील के साथ दिया गया था कि वे इसे आगे प्रसारित न करें। उस पर्चे पर विगत 1 जुलाई को फिर विचार विमर्श हुआ और उस विचार विमर्श क बाद पर्चे को निम्न रूप दिया गया।

साथियो!

दुनिया के सबसे बड़े जनतंत्र कहे जाने वाले देश भारत में आए दिन दलितों पर अत्याचार और उनके अपमान की घटनाएं एक आम बात है। विगत दिनों केन्द्रीय संसदीय मंत्री श्री अनंत कुमार हेगड़े ने साफ साफ शब्दों में कहा कि भारत के नागरिक अपने-अपने धर्म या अपनी-अपनी जाति से अपनी पहचान बनाएं न कि धर्मनिरपेक्षता के आधार पर। उन्होंने भारत के संविधान को 'अम्बेडकर स्मृति' की संज्ञा देते हुए इसे बदल डालने का ऐलान भी किया, हांलाकि बाद में इन्होंने इस पर माफी भी मांगी। कर्नाटक के एक कस्बे सिरसी में 'हमारा संविधान, हमारा गौरव' विषय पर कार्यक्रम के एक मंच पर कर्नाटक के एक फिल्म एक्टर व स्तंभकार श्री प्रकाश राज भी एक वक्ता के रूप में विराजमान थे। कार्यक्रम के बाद बीजेपी युवा मोर्चा के कार्यकर्त्ताओं ने उस मंच को गौमूत्र और तुलसी-पत्ते छिड़क कर 'शुद्ध' किया क्योंकि एक्टर श्री प्रकाश राज किसी दलित जाति से संबंध रखते हैं और हिन्दुत्व किसी दलित को सामाजिक रूप से समान होने की मान्यता प्रदान नहीं करता। शर्मसार कर देने वाली एक और घटना गत 14 जनवरी को उत्तर प्रदेश के जिला मुजफ्फरनगर में घटी जब कालनपुर गांव के एक 22 वर्षीय दलित युवक विपिन को हिन्दुत्ववादियों के एक ग्रुप ने इस वजह से बुरी तरह पीटा कि उसने अपने मुहल्ले में हिन्दू देवी-देवताओं की तस्वीरों की जगह बाबा साहब भीम राव अम्बेडकर के चित्र लगाने का अभियान छेड़ा हुआ था। पिटाई के दौरान हिन्द्वादी गुण्डों ने विपिन को 'जय श्री राम' और 'जय माता दी' के नारे लगाने को भी विवश किया। हमारे देश में ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म की सत्ता हजारों साल पहले कायम हुई थी जब समाज में श्रम विभाजन के आधार पर वर्ण-व्यवस्था और उससे फिर जाति व्यवस्था वजूद में आइ थी और जो अंग्रेजी राज के कायम होने से पहले तक समाज के भौतिक आधार और अधिरचना में अपनी पूरी पकड़ बनाए हुए थी। ब्रिटिश पूंजीवादी शासकों ने भारत की इस जाति व्यवस्था पर चोटें मारनी शुरु की थी और इसकी चूलों और कबजों को कुछ ढीला भी किया था लेकिन उतना ही जितना कि उनके शोषण और शासन के लिए जरूरी था। ब्राह्मणवादी जाति व्यवस्था की चूलों पर ब्रिटिश शासन ने इतनी चोटें जरूर मार दी थी कि ज्योतिबा फूले, सावित्रोबाई फूले, पेरियार और अम्बेडकर जैसे समाज सुधारकों के लिए इस ब्राह्मणवादी जातिवादी समाज व्यवस्था के उत्पीड़न और अत्याचारों के खिलाफ अपनी आवाज उठाने की स्थिति पैदा हो गई थी। डॉ. भीम राव अम्बेडकर ने तो सन् 1927 में वर्ण और जाति व्यवस्था के संविधान *मनुस्मृति* का खुलेआम दहन भी कर दिया था। उनके भुक्तभोगी होने के कारण उनके दिल में ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म और इसकी जाति व्यवस्था के प्रति इतनी नफरत पैदा हो गई थी कि सन् 1935 में उन्होंने यहां तक कह डाला कि हिन्दू धर्म में 'मैं पैदा जरूर हो गया हूं लेकिन इसमें मरूंगा नहीं' और 14 अक्तूबर सन् 1956 को उन्होंने अपनी इस प्रतिज्ञा को सच कर दिखाया जब उन्होंने अपने लाखों अनुयायियों के साथ

नागपुर में बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और हिन्दू धर्म को तिलांजलि दे डाली। बेशक भारतीय समाज आज जाति व्यवस्था की उन स्थितियों में नहीं है जिन स्थितियों को ज्योतिबा फूले, पेरियार और अम्बेडकर ने झेला था और उनके खिलाफ संघर्ष किया था फिर भी हिन्दुत्व के खिलाफ संघर्ष को बंद कर दिये जाने की स्थितियां पैदा नहीं हुई हैं। यह शर्म की बात है कि दलितों का रहनुमा होने का दम भरने वाले और अपने को बाबा साहब का अनुयायी कहलाने वाले उदित राज, रामदास आठवले और रामविलास पासवान जैसे अनेक 'दलित नेता' दलितों के हितों और कल्याण के नाम पर हिन्दुत्व की छत्रछाया में अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति की राजनीति में गोते लगा रहे हैं। बाबा साहब ने तो राष्ट्रीय आजादी आंदोलन में कांग्रेस के साथ मिलकर इसलिए सक्रिय भूमिका अदा नहीं की थी कि उनके मन में यह भय काम कर रहा था कि कहीं अंग्रेजों से आजाद होने के बाद यह राष्ट्र एक हिन्दू राष्ट्र न बन जाए और बाबा साहब के 'वफादार उत्तराधिकारियों' ने उनसे इस हद तक गद्दारी को कि उन्हीं की दीक्षाभूमि पर उनकी 126वीं जयंती, 14 अप्रैल 2017, पर हिन्दुत्ववादी विचारधारा वाले उस प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी को आमंत्रित किया जिनकी खुल्लमखुल्ला गर्जना थी कि वे एक हिन्दू राष्ट्रवादी हैं। आज कट्टर ब्राह्मणवादी हिन्दू संगठन आरएसएस अपनी राजनीतिक शाखा भाजपा के जरिए देश में घोर प्रतिक्रियावादी और सांप्रदायिक-फासीवादी राज कायम करना चाहते हैं, जिसके लिए वे अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय की देशभक्ति पर सवाल खड़ा करते हुए उन्हें कटघरे में खड़ा करना चाहते हैं और अपने इस देशद्रोही कृत्य के लिए वे अब दलितों को भी अपने साथ हिन्दुत्व के आधार पर जोड़ना चाहते हैं। गत् 28 जनवरी के दिन तो 'न्यूज 24' टी.वी. चैनल पर आरएसएस विचारक श्री राकेश सिन्हा ने तो मुसलमानों को दो टूक धमकी दे डाली कि यदि हिन्दू, मुसलमानों के खिलाफ प्रतिक्रिया पर उतर आए तो '15 मिनट तो क्या 15 सेंकड भी नहीं लगेंगे'। ये लोग महज अपनी वोट-राजनीति की स्थिति को ही मजबूत बनाने के लिए हिन्दू भावनाएं भड़काने का जघन्य अपराध कर रहे हैं वरना श्रमजीवी हिन्दुओं को भी देने के लिए इनके पास सिर्फ बेरोजगारी, मंहगाई, भुखमरी आदि आदि के सिवाय और कुछ नहीं है। रिपोर्टें आ रही हैं कि पिछले वर्ष यानी 2017 में देश में पैदा हुई कुल संपदा का 73 प्रतिशत महज 1 प्रतिशत शोषकों और खून चूसने वालों के हाथों में चला गया है और लूट की यह पूंजीवादी प्रक्रिया निरंतर जारी है।

आज आरएसएस, भाजपा और इनसे जुड़े अन्य संगठन अपने नेता दीन दयाल उपाध्याय के दर्शन 'एकात्म मानववाद' की बहुत दुहाई दने में लगे हुए हैं और देश के दलितों, मेहनतकशों, महिलाओं यानी सब को समझा रहे हैं कि इस दर्शन का मायने है कि सबको एक समान बल्कि एक ही समझना एवं किसी भी प्रकार के भेदभाव को न मानना। असल में यह एकात्म मानववाद का दर्शन उपनिषदों में वर्णित वेदांत दर्शन है जिसे अंतिम रूप 9वीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य द्वारा दिया गया था जिसने भारत में चार पीठों की स्थापना भी की थी। शंकराचार्य की भी क्या विडंबना है! उनकी कथनी और करनी में कितना बड़ा विरोधाभास है। एक तरफ तो उन्होंने 'एकात्म मानववाद' की बात की और दूसरी तरफ उस *मनुस्मृति* की भी प्रशंसा की जो घोर सामाजिक असमानता यानी बाह्मणवादी जाति व्यवस्था की रक्षा का संविधान थी। आज भी कथनी करनी का यह दोगलापन ज्यों का त्यों बना हुआ है। एक तरफ तो आरएसएस व भाजपा दीन दयाल उपाध्याय के 'एकात्म मानववाद' का ढोल पीटते हैं दूसरी तरफ उस भगवद्गीता को राष्ट्रीय ग्रंथ के रूप में मान्यता दिए जाने और उसे पाठ्यक्रमों में लागू किए जाने के इरादे बना रहे हैं जिस भगवद्गीता में 'भगवान' श्रीकृष्ण घोषित करते हैं कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था के चार वर्णों की रचना उन्होंने ही की थी। और कौन नहीं जानता कि हिन्दू ग्रंथों में साफ-साफ कहा गया है कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य पेट से और शूद्र पैरों से पैदा

हुए हैं तथा इसी के अनुसार उनके व्यवसाय, अधिकार और कर्तव्य तय किए गए हैं। फिर दलित, सामाजिक असमानता की ढाल इस हिन्दुत्व को क्यों माने? 'एकात्मवाद' और 'वसुधैव कुटुम्बकम' आदि के उद्घोष मनुवादियों, ब्राह्मणवादियों और हिन्दुत्व के पैरोकारों के मुंह से शोभा नहीं देते बल्कि ये नारे उनके पाखंड को ही जाहिर करते हैं। हिन्दुत्ववादी विचारधारा के पोषक एवं रक्षक तुलसीदास जी ने तो अपने द्वारा रचित 'रामचरितमानस' में हिन्दू 'समुद्र देवता' के मुख से यहां तक कहलवा डाला कि 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।।' जिसे आज भी बड़े गर्व से गाया जाता है। क्या हिन्दुत्ववादी आरएसएस, बीजेपी आदि संगठनों के शीर्ष पर बैठे नेता आज भी सार्वजनिक तौर पर 'शूद्र' और महिला विरोधी इस चौपाई के मद्देनजर श्री 'संत' तुलसीदास की कड़ी निंदा करने की हिम्मत कर सकते हैं? नहीं। और तुलसीदास जी की बात तो छोड़िए आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती जिन्होंने एक समाज सुधारक होने का नाम कमाया, वे भी वर्ण व्यवस्था के कितने कट्टर पक्षधर निकले। कहने को तो स्वामी दयानंद वर्ण व्यवस्था को गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर स्वीकारते हैं लेकिन यह तो मात्र उनकी कथनी है, करनी में वे इसके उल्ट कहते हैं। स्वामी दयानंद ने मानव जीवन के संस्कारों को लेकर एक ग्रंथ लिखा है जिसका नाम है 'संस्कार विधि'। इस पुस्तक में उन्होंने मनुष्य जीवन के सोलह संस्कार बताए हैं, गर्भ से लेकर श्मशान में अंतिम संस्कार तक। इन्हीं सोलह संस्कारों में एक संस्कार 'नामकरण' संस्कार भी है अर्थात् जन्मे बच्चे का नाम धरने का संस्कार। इस बारे वे लिखते हैं कि "नामकरण का काल जिस दिन जन्म हो उस दिन से लेके दस दिन छोड़ ग्यारहवें व एक सौ एकवें अथवा दूसरे वर्ष के आरंभ में जिस दिन जन्म हुआ हो नाम धरे..."। कुछ आगे चलकर वे बच्चे का 'देव' नाम रखे जाने का उदाहरण देते हुए अलग-अलग वर्णों के बच्चों के नामों को निम्न प्रकार से सुझाते हैं:

"...ब्राह्मण हो तो देव शर्मा, क्षत्रिय हो तो देव वर्मा, वैश्य हो तो देव गुप्त और शुद्र हो तो देवदास..."।

अब देखिए! क्या यह घोर सामाजिक अन्याय नहीं है कि शुद्र के घर जन्में किसी बालक के नाम के पीछे उसके जन्म के ग्यारहवें दिन ही 'दास' का लेबल चस्पा कर दें और फिर दावा करें कि हम तो वर्ण व्यवस्था को गुण, कर्म, स्वभाव से मानते हैं जन्म से नहीं। 'संस्कार विधि' में दिए गए एक अन्य संस्कार का जिक्र करना भी प्रासंगिक होगा। वह संस्कार है 'उपनयन संस्कार' यानी बच्चे को यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण कराए जाने वाला संस्कार। स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपनी पुस्तक 'संस्कार विधि' में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय आर वैश्य के घर जन्में बालक को ही उपनयन संस्कार का अधिकारी और पात्र बताया है। उन्होंने शुद्र के घर जन्में बालक का उपनयन संस्कार किया जाना नहीं लिखा और साथ में यह भी लिखा है कि उपनयन संस्कार का दिन ही वेदारंभ यानी वेदों के अध्ययन आरंभ करने का दिन होता है। अत: स्वामी दयानंद ने क्योंकि शुद्र के घर जन्में बालक का उपनयन संस्कार ही नहीं लिखा तो साफ है कि उस बालक को वेदों के अध्ययन का भी अधिकार प्राप्त नहीं होता। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में भी स्पष्ट लिखा है कि, "जो कुलीन शुभ लक्षण युक्त शुद्र हो तो उसको मंत्रसंहिता (अर्थात् वेद) छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, शुद्र पढ़े परंतु उसका उपनयन न करे यह मत अनेक आचार्यों का है।" अब इसके बाद भी यदि आर्य समाज दावा करे कि वह वर्णों की व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं बल्कि गुण, कर्म, स्वभाव क आधार पर मानता है तो फिर यह एक खोखले दावे के अलावा और कुछ नहीं। अत: दलित मुक्ति संघर्ष की सही दिशा संबंधी प्राथमिक बात तो यही है कि दलित हिन्दुत्ववादी विचारधारा और हिन्दू राष्ट्रवादी राजनीति का विरोध करें, उसके घेरे से बाहर निकल,

दलित हितों के नाम पर जो नेता हिन्दुत्व की राजनीति के खेमे में जा घुसे हैं उनका पर्दाफाश करें और तमाम हिन्दुत्ववादी शक्तियों को परास्त करने के कार्य को एक चुनौती के रूप में लें।

हमारे देश के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में देश के पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली गांधीवादी कांग्रेस पार्टी का विचारधारात्मक आधार भी हिन्दुत्व पर ही आधारित था। गांधी जी ने राजनीति में धर्म का प्रवेश कराने की बात कही थी। आखिर कौन से धर्म का प्रवेश कराने की बात कर रहे थे गांधी जी? उसी को जिसे वे खुद मानते थे। आइए देखें कि रजनीपाम दत्त इस बारे क्या लिखते हैं:

"1920-22 में जब असहयोग आन्दोलन अपने चरम शिखर पर था और गांधी जी संयुक्त राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता थे, और जब उन पर यह जिम्मेदारी आती थी कि वह जो कहें, वह एक संयुक्त आन्दोलन के नेता के योग्य हो, उस समय उन्होंने ऐलान किया था कि, 'मैं सनातनी हिन्दू हूँ', क्योंकि–'मैं वेद, उपनिषद, पुराण और समस्त हिन्दू शास्त्रों में विश्वास करता हूँ और इसलिए पुनर्जन्म तथा अवतारों में भी मेरा विश्वास है। मैं वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करता हूँ–उस रूप में, जो मेरी राय में सर्वथा वेदसम्मत रूप है, न कि उसके मौजूदा प्रचलित और भोंडे रूप में। मैं प्रचलित अर्थ से कहीं अधिक व्यापक अर्थ में गौ-रक्षा में विश्वास करता हूँ। मूर्ति पूजा में मुझे अविश्वास नहीं है'।" ('भारत वर्तमान और भावी', अध्याय: 'भारतीय जनतंत्र की समस्याएं')

गांधी जी का हिन्दुत्व बारे यह कथन हमने इस इरादे से नहीं दिया कि हम गांधी जी के हिन्दुत्व की तुलना आरएसएस और बीजेपी के हिन्दुत्व से कर रहे हैं। गांधी जी का हिन्दुत्व उनकी अपनी व्यक्तिगत आस्था का मामला था न कि अन्यों पर जबरदस्ती थोपे जाने वाला हिन्दुत्व। हमारा मकसद सिर्फ यह है कि गांधी जी ने यहां हिन्दुत्व का निचोड़ पेश कर दिया है और अपने बारे में भी खुलेआम और डंके की चोट पर स्वीकार किया कि वे एक सनातनी हिन्दू है, गौ-रक्षा और उन तमाम हिन्दू ग्रंथों पर विश्वास करते है जो वर्ण एवं जाति व्यवस्था के रक्षक हैं। पर ऐसी स्थिति में भी सहज ही समझा जा सकता है कि वर्ण और जाति व्यवस्था से उत्पीड़ित डॉ. भीम राव अम्बेडकर जैसा कोई व्यक्ति कैसे गांधी जी के नेतृत्व को स्वीकार करके उनके साथ राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में सक्रियता के साथ जुड़ सकता था। अम्बेडकर के मन में यह जो भय काम कर रहा था कि आजादी मिलने पर देश हिन्दू राष्ट्र बन जाएगा, निराधार नहीं था। फिर दोहरा दें कि ऊपर गांधी जी के हवाले से जो उद्धृत किया गया वही हिन्दुत्व का निचोड़ है। चाहे इसे हिन्दू धर्म का आधार कहो और चाहे हिन्दुत्व के आधार पर जीवन शैली का। हिन्दुत्व जीवन शैली निराधार नहीं हो सकती। और यदि गांधी जी का ऊपर उद्धृत किया गया उद्धरण ही हिन्दुत्व की जीवन शैली का आधार है तो फिर इस जीवन शैली को देश के मुसलमान और देश के दलित कैसे अपना सकते हैं? लेकिन आरएसएस और भाजपा आज भी अपनी पूरी ताकत से बोल रहे हैं कि 'हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है' और क्योंकि इन हिन्दुत्ववादियों का दावा है कि 'मर्यादा पुरुषोत्तम' राम ही हिन्दुत्व का आदर्श नायक है इसलिए उनका कहना है कि 'हिन्दुत्व ही रामत्व है' तथा 'रामत्व ही राष्टोयत्व है'। इस आधार पर उनका कहना है कि हर किसी को अपने आप को राष्ट्रवादी सिद्ध करने के लिए 'राम' को अपने आदर्श नायक के रूप में स्वीकारना अनिवार्य है। क्या यह गैर-हिन्दुओं और दलितों के साथ जोर-जबरदस्ती नहीं है? क्या देश के दलित वर्ण-व्यवस्था के प्रतीक उस 'राम' को अपना आदर्श स्वीकार करें जिसने वर्णों के अधिकार और कर्तव्य की अवहेलना करने वाले शंबूक नामक शुद्र का सिर धड़ से अलग कर दिया था? कदापि नहीं। गौ-रक्षा के

नाम पर भी आज देश में मुसलमानों और दलितों के खिलाफ एक दहशत का माहौल बना हुआ है। फरवरी 1, 2018 के 'द ट्रिब्यून' अंग्रेजी समाचार पत्र में तो 'यूके वॉचडॉग' जिसके हवाले से विश्व के देशों बारे डैमोक्रेसी की रेटिंग अथवा डैमोक्रेसी इंडेक्स की रिपोर्ट छपी है उसमें भारत अब 32वें पायदान से लुढ़ककर 42वें पायदान पर चला गया है और जिसकी वजह हिन्दुत्ववादियों द्वारा अल्पसंख्यकों पर तरह-तरह के हमले और हिंसा किया जाना बताया है। यूपी के कासगंज में गणतंत्र दिवस पर सांप्रदायिक राजनीति के खेल में जिसमें एक युवक चंदन गुप्ता की बलि चढ गई और एक अन्य मुस्लिम युवक की एक आंख चली गई, की जड़ में भी हिन्दू राष्ट्रवादी राजनीति का भगवा ध्वज निहित है। हिन्दू राष्ट्रवादियों का सदैव ही अपने भगवा ध्वज को राष्ट्र ध्वज के रूप में स्थापित करने का कुप्रयास रहा है। तिरंगा यात्रा की आड़ लेकर उन्होंने कासगंज में अपना सांप्रदायिक खेल खेला। रोहित वेमुला आत्महत्या, गुजरात का दलित 'उना कांड', सहारनपुर की घटनाएं और अखलाक, जुनैद, पहलू खान आदि अनेक हत्याएं दलितों व अल्पसंख्यकों पर हिन्दुत्ववादी हमलों के अन्य चंद उदाहरण है। दलितों की बहू-बेटियों पर बढ़ते यौन हमलों का कारण भी हिन्दुत्ववादी सामाजिक असमानता की विचारधारा में निहित है। हिन्दुत्व आज देश की डैमोक्रेसी के लिए एक फासीवादी दैत्य बनकर सामने आ रहा है। इसलिए हिन्दत्व के इस फासीवादी दैत्य की विचारधारा की शक्ति के स्रोत हिन्दू धर्म के तमाम वे ग्रंथ और हिन्दुत्व के तमाम वे नायक, जो वर्ण और जाति व्यवस्था के पक्षधर, रक्षक और पोषक रहे हैं, देशभर के दलितों के संघर्ष के एंजेडे पर प्रथम स्थान पर होने चाहिए। हिन्दुत्ववादी शक्तियां 'राम-राज्य' के ढोल पीटती हैं। लेकिन क्या 'राम' कोई इतिहास पुरुष हैं? रामायण के 'राम' जो वर्ण व्यवस्था, गौ-ब्राह्मण रक्षक व 'राम-राज्य' के प्रतीक माने जाते हैं, कौन-सी सहस्राब्दी या सदी में हुए इसका कुछ पता नहीं हैं। इतना निश्चित है कि वैदिक अथवा आर्य सभ्यता सिंधु घाटी अथवा मोहनजोदेड़ों सभ्यता के अंत में आरंभ हुई है यानो ईसा पूर्व 1500 वर्ष के आस-पास। अर्थात् वैदिक सभ्यता का आरंभ काल आज से लगभग 3500 वर्ष पूर्व में बनता है। रामायण और महाभारत इससे पहले की रचनाएं नहीं हो सकती तथा न ही राम और कृष्ण। लेकिन भाजपा के एक 'विद्वान' प्रवक्ता डॉ. संबित पात्रा ने गत 29 जनवरी की सांय 7 बजे 'न्यूज 18 इंडिया' टी.वी. चैनल के 'आर/पार' कार्यक्रम में, जिसे एंकर अमिश देवगन संचालित कर रहे थे, जोर शोर से दावा किया कि 'राम' इस देश में 5 करोड़ वर्ष पूर्व में हुए थे। अब उनके इस मानव-इतिहास संबंधी ज्ञान पर हंसें या रोयें? पर क्या करें हिन्दुत्व संबंधी उनके अपने तथ्य हैं, अपना इतिहास है और अपना विज्ञान है। और अब तो हम देखते हैं कि कांग्रेस के अध्यक्ष श्री राहुल गांधी मोदी जी के साथ हिन्दुत्व की प्रतिस्पर्धा में पीछे नहीं रहना चाहते हैं। वे भी मोदी जी की भांति अब मंदिरों में जाने लगे हैं, हाथ में पूजा की थाली लेकर और माथे पर चंदन, हल्दी, गेरू लगाकर हिन्दू भगवानों और देवी-देवताओं की आरती उतारते हैं और यहां तक कि अपने हिन्दू होने का प्रमाण देने के लिए अपने पहने हुए जनेऊ तक का भी प्रदर्शन करते हैं। लेकिन अभी वे देश का न तो हिन्दू राष्ट्र बनाने की बात करते हैं और न ही अपने हिन्दुत्व को अन्यों के ऊपर जबरदस्ती थोपे जाने का इरादा रखते हैं; मोदी जी की भांति वे यह दावा भी नहीं करते कि प्राचीन हिन्दू ग्रंथों में प्लास्टिक सर्जरी, विमान और स्टैम सैल्स के प्रमाण मिलते हैं। वे यह भी नहीं कहते कि भारत में यदि रहना है तो 'वंदे मातरम्' कहना होगा। परंतु यह बात निश्चित है कि हिन्दुत्व की कोई भी वेराइटी क्यों न हो, हार्ड हो या सॉफ्ट वह वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था यानी सामाजिक असमानता की पक्षधर होती है और इसीलिए दलितों के हितों के विरुद्ध होती है।

खैर! ऊपर हमने चर्चा की कि बाबा साहब ने गांधी जी के नेतृत्व में अपनी किस आशंका के चलते राष्ट्रीय आजादी आंदोलन में सक्रिय भाग नहीं लिया तो फिर उनके संघर्ष का क्या चरित्र रहा और उनके संघर्ष की क्या उपलब्धि रही? इसमें दो राय नहीं कि उनका संघर्ष समाज में समानता, स्वतंत्रता और भाइचारा कायम करने का संघर्ष रहा। लेकिन एक सुधारवादी ढंग से। क्रांतिकारी ढंग का संघर्ष तो गांधी जी और कांग्रेस का भी नहीं रहा पर यह जरूर है कि गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस सत्ता पाप्ति के लिए संघर्ष कर रही थी। और कुल मिलाकर कांग्रेस अपने इस संघर्ष में सफल रही तथा 15 अगस्त 1947 को साम्राज्यवादी शासक वर्ग ने सत्ता का हस्तांतरण भारतीय पूंजोपति वर्ग को कर दिया आर इसी के साथ आधी-अधूरी जैसी भी हो भारत में जनवादी क्रांति सम्पन्न हुई। भारत में औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध संघर्ष का अंत हुआ तथा समाज विकास की एक नई प्रक्रिया और एक नई मंजिल शुरु हुई, एक नए प्रधान अंतर्विरोध का आरंभ हुआ एवं भारत के मेहनतकशों क राजनीतिक संघर्ष का लक्ष्य भी इसी के साथ बदल गया।

जैसा कि सर्वमान्य है कि बाबा साहब का संघर्ष समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे की स्थापना का संघर्ष था तो यह संघर्ष निश्चित रूप से जनवाद के लिए संघर्ष था बेशक सुधारवादी ढंग से। हम यह भी जानते हैं कि राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का चरित्र भी पूंजीवादी-जनवादी ही होता है। इन दोनों बातों से एक चीज स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है कि गांधी जी के नेतृत्व में देश का पूंजीपति वर्ग जिस सत्ता प्राप्ति के प्रयासों यानी पूंजीवादी जनवादी संघर्ष को अपने ढंग और हितों से अंजाम देने में लगा हुआ था तब बाबा साहब उसी संघर्ष में एक पूरक की भूमिका निभा रहे थे और वह पूरक संघर्ष की भूमिका एक जनवादी चरित्र लिए हुए थी और जब सत्ता हस्तांतरण के लिए समझौता हुआ और एक गणतंत्र देश का नया संविधान बनाने के लिए जो संविधान सभा अस्तित्व में आई उसमें बाबा साहब भी एक सदस्य के तौर पर निर्वाचित हुए या कराए गए। परिणामस्वरूप जो संविधान बनाया गया और लागू किया गया उसमें जाति व्यवस्था का समाज के भौतिक आधार से राज्य द्वारा खात्मा कर दिया गया। अर्थात् जाति और जन्म के आधार पर, वशांनुगत पेशों वाली व्यवस्था का खात्मा कर दिया गया। देश के हर नागरिक को अपनी पसंद का पेशा चुनने का अधिकार दिया गया। अस्पृश्यता और बेगार प्रथा के खात्मे की घोषणा हुई तथा कुछ अन्य जनवादी-मौलिक अधिकार नागरिकों को मिले। लेकिन हिन्दुत्ववादी अथवा ब्राह्मणवादी विचारधारा और जातिवादी मानसिकता समाज के पूंजीवादी ढांचे की अधिरचना में बनी रही जिसके फलस्वरूप आज भी दलितों पर अत्याचार और उनके अपमान की घटनाएं घटती आ रही हैं। लेकिन जैसा कि कहा गया, पूर्व की जाति-व्यवस्था की भांति आज देश का संविधान और प्रशासनिक ढांचा, राज्यसत्ता किसी भी नागरिक को अपनी जाति का वंशानुगत पेशा अपनाने के लिए बाध्य नहीं कर सकती, फिर भी कुछ ऐसे पेशे हैं उदाहरण के तौर पर शहरों और गांवों में सफाई का पेशा जिसमें अधिकांश लोग आज भी उसी जाति से संबंध रखते हैं जिसके लिए कि पहले के जाति व्यवस्था वाले राज्य में वह पेशा वंशानुगत आधार पर मुकर्रर था। इस स्थिति का कारण जाति व्यवस्था का बंधन नहीं अपितु घोर बेरोजगारी के संकट से ग्रस्त पूंजीवादी व्यवस्था में वैकल्पिक काम के अभाव का होना है। संकटग्रस्त पूंजीवादी व्यवस्था में सभी के लिए उपयुक्त रोजगार संभव ही नहीं है। आज यह बात किसी से छुपी नहीं कि बीए, एमए, आदि उच्च डिग्रीधारी नौजवान भी एक माली, चपरासी, और चौकीदार की पोस्ट के लिए और वह भी ठेके पर, मारे-मारे फिरते हैं। यह बात दिन के उजाले की तरह साफ है कि पूंजीपति वर्ग के शासन और संविधान द्वारा आम जनता को दिए जाने वाले सभी जनवादी मौलिक अधिकार औपचारिक और कागजी ही होते हैं। संविधान ने आम जनता को जीने का मौलिक अधिकार दिया है पर आम आदमी कैसा जीवन जीता है, उसक पास खाने के लिए

रोटी है या नहीं, पहनने के लिए कपड़ा-जूता और रहने के लिए मकान है भी या नहीं इसकी गारंटी कहां है? संविधान में शिक्षा का मौलिक अधिकार होते हुए भी क्या सभी को शिक्षा मिल पा रही है? सभी नागरिकों को संविधान समानता का भी अधिकार देता है लेकिन क्या सभी नागरिक एक ही गुणवत्ता का जीवन जी रहे हैं? आदि आदि। पूंजीवादी सत्ता और संविधान के तहत तमाम मौलिक और जनवादी अधिकार कागजी, दिखावटी और कथनी तक ही सीमित होते हैं। आम जनता का व्यवहारिक जीवन कुछ और ही होता है। हमारे देश में भी क्योंकि सत्ता का हस्तांतरण सन् 1947 में पूंजीपति वर्ग के हाथों में हो गया था, इसी कारण यहां जाति व्यवस्था का खात्मा और पेशे की स्वतंत्रता का अधिकार भी मात्र औपचारिक तौर पर ही पूरे हुए हैं लेकिन पूंजीवादी अधिकार और पूंजीवादी व्यवस्था आम जनता को औपचारिक अधिकारों की सीमाओं में ही बांधे रखती है। अब दलितों, मजदूरों एवं तमाम शोषित-पीड़ित मेहनतकशों की मुक्ति और इनके सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन में वास्तविक समानता एवं स्वतंत्रता का सवाल पूंजीवादी शासन, संविधान और व्यवस्था के घेरे को तोड़कर देश के समाजवादी आधार पर नवनिर्माण के जरिए ही संभव है। बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर यदि देश के दलितों व अन्य शोषित पीड़ित मेहनतकश वर्गों को सत्ता दिलाने के लिए आजादी आंदोलन में लड़े होते और देश के पूंजीपति वर्ग के हाथों में सत्ता हस्तांतरित होने से रोक पाते तो निश्चित रूप से आजादी के बाद देश के दलितों, और अन्य तमाम शोषितों-पीड़ितों को न तो ये दुर्दिन देखने पड़ने और न ही पूंजीवादी नर्क का यह नारकीय जीवन भोगना पड़ता। पर क्या करें! शोषित पीड़ित-दलित वर्गों के हाथों में सत्ता के लिए न तो बाबा साहब खुद लड़े और न ही इस उद्देश्य के लिए उन्होंने इन वर्गों को शिक्षित और संगठित किया। वे महज सुधारवादी ढंग से ही समानता और बंधुत्व आदि आदर्शों के लिए आवाज उठाते रहे और आवेदन-निवेदन करते रहे। उन्हें दलितों की वास्तविक मुक्ति के लिए क्रांतिकारी ढंग से सत्ता के लिए संघर्ष करना चाहिए था लेकिन शोषक और उत्पीड़क वर्गों की सत्ता के प्रति उनका रूख मिलनात्मक ही रहा, आजादी से पहले भी और आजादी के बाद भी।

क्रांतिकारी ढंग से सत्ता के लिए संघर्ष: हम जानते हैं कि समाज का गठन उत्पादन के आधार पर हुआ है। बिना उत्पादन के समाज संभव ही नहीं है। उत्पादन के लिए मनुष्य एक तरफ तो प्रकृति के साथ अपना संबंध बनाते है और दूसरी तरफ मानव-मानव के बीच कुछ संबंध बनते है। उत्पादन की क्रिया में मानव-मानव के बीच बनने वाले संबंधों को उत्पादन के संबंध कहा जाता है और इन उत्पादन के संबंधों का कुल योग ही समाज के आर्थिक ढांचे का निर्माण करते हैं और इस आर्थिक ढांचे के अनुकूल यानी इसको थामे रखने के लिए अथवा बनाए रखने के लिए एक ऊपरी ढांचा निर्मित होता है जिसमें तमाम राजनैतिक सामाजिक संस्थाएं, विचार, रीति रिवाज और परंपराए आदि होते हैं। इन राजनैतिक संस्थाओं में समाज के आर्थिक ढांचे की रक्षा करने वाली राजनीतिक शक्ति को ही राज्यसत्ता कहा जाता है। भारत में औपनिवेशिक काल से पूर्व हमारे समाज के जातिवादी सामंती आर्थिक ढांचे की यह राज्यसत्ता ही मुख्य रूप से रक्षा करती थी और इसे शोषक वर्गों/वर्णों, जातियों के हितों के लिए कायम रखने का कार्य करती थी। औपनिवेशिक काल में उपनिवेशवादी ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग ने पुरानी सामंती सत्ताओं को ध्वस्त करते हुए और उन्हें अपने अधीन बनाते हुए अपनी औपनिवेशिक सत्ता कायम की और पुरानी सामंती जातिवादी व्यवस्था को उतनी ही चोट पहुंचाई जितनी कि उसके अपने हितों की पूर्ति के लिए जरूरी था। यहां यह भी स्पष्ट किया जाना उचित होगा कि ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के दौरान भारत की ब्राह्मणवादी-जातिवादी व्यवस्था को जो भी चोटें लगी उसके पीछे ब्रिटिश शासकों की देश के दलितों की भलाई या मुक्ति की कोई भावना काम नहीं कर रही थी बल्कि औपनिवेशिक उत्पादन प्रणाली की खुद की

यह जरूरत थी। ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता ने देश के पुराने सामंती जातिवादी ढांचे पर अपने स्वार्थवश कुछ हद तक प्रहार किया था और दलितों को कुछ राहत हासिल हुई थी। फिर सवाल उठता है कि क्या इसी राहत के अहसान में दबकर दलित वर्ग ब्रिटिश सत्ता के समक्ष मात्र प्रार्थी बनकर और सहूलियतों के लिए आवेदन निवेदन करते रहें या उन्हें अपना खुद का राज कायम करने के लिए संगठित होना चाहिए? औपनिवेशिक सत्ता की स्थापना के बाद देश में जो भी जातिवादी, सामाजिक और आर्थिक शोषण कायम रहा, उससे मुक्ति के लिए उसे कायम रखने वाली शक्ति यानी सत्ता के विरुद्ध संगठित संघर्ष करते हुए उसे उखाड़ फेंककर और उसके स्थान पर खुद संघर्ष करने वाले लोगों की सत्ता कायम करने के अलावा और क्या रास्ता हो सकता था? बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने ब्रिटिश सत्ता के समक्ष आवेदन निवेदन करने वाला रास्ता चुना जिसे हम सुधारवादी रास्ता कहते हैं और भगतसिंह ने दूसरी क्रांतिकारी राह का आह्वान किया था। बाबा साहब दलितों मजदूरों की सत्ता के लिए नहीं लड़े यही उनकी कमजोरी थी और उनकी इसी कमजोरी के कारण सत्ता को देश का पूंजीपति वर्ग हथिया ले गया फलस्वरूप जनवादी क्रांति अपने अंजाम तक नहीं पहुंच पाई, वह अधूरी ही रह गई जिसका खामियाजा अभी इस देश के दलित और तमाम श्रमिक तथा मेहनतकश किसान भुगत रहे हैं। आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि बाबा साहब को सुधारवादी क्यों करार दिया जाए, क्रांतिकारी क्यों नहीं? पर क्रांतिवाद और सुधारवाद का निर्णय तो शासक वर्ग की राज्यसत्ता और सरकार के प्रति रूख से ही तय होता है। इसी कसौटी के आधार पर कहा जा सकता है कि बाबा साहब ने क्रांतिकारी मार्ग न अपनाकर सुधारवाद का रास्ता अपनाया। राज्यसत्ता और सरकार के प्रति उनका रूख जैसे कि पहले कहा गया है विरोधात्मक न रह कर मिलनात्मक ही रहा। यहां तक कि तेलंगाना किसान विद्रोह को दबा दिए जाने की निर्णायक चोट भी उसी सत्ता और सरकार ने की जिसके कि बाबा साहब खुद भी एक हिस्सा थे। कई वामपंथी पार्टियों को भी क्रांतिवाद की इस कसौटी के बारे में मालूम नहीं है। जिस सरकार के बाबा साहब हिस्सा (कानून मंत्री) थे, उस सरकार ने तेलंगाना किसान विद्रोह में जो भूमिका निभाई वही भूमिका 1967 की संयुक्त मोर्चा सरकार ने पश्चिम बंगाल में नक्सलबाड़ी में उठे किसान उभार को दबाने के लिए अदा की जिस सरकार के गृह मत्री माकपा के नेता ज्योति बासु थ और सीपीआई के अलावा अपने को एकमात्र क्रांतिकारी पार्टी घाषित करने का दावा करने वाली एसयूसीआई(सी) भी उस सरकार का हिस्सा थी। राष्ट्रीय आजादी आंदोलन में शहीद भगत सिंह की सोच ही सही क्रांतिकारी धारा का प्रतिनिधित्व करती थी। भगत सिंह ने देश के दलितों/अछूतों की सामाजिक स्थिति को भी गहराई से समझा था और यह भी समझा था कि दलितों के अधिकारों की लड़ाई देश की आजादी की लड़ाई से जोड़ी जानी चाहिए। यानी दलितों को उनके अधिकार मिलने चाहिएं। इसके लिए उन्होंने दलितों का आह्वान किया था कि वे अपने को इस कार्य के लिए संगठित करें। सन् 1928 में लिखे अपने लेख *अछूत का सवाल* में उन्होंने साफ लिखा:

"लेकिन यह काम उतने समय तक नहीं हो सकता जितने समय तक कि अछूत कौमें अपने आप को संगठित न कर लें। हम तो समझते हैं कि उनका स्वयं को अलग संगठनबद्ध करना तथा मुस्लिमों के बराबर गिनती में होने के कारण उनके बराबर अधिकारों की मांग करना बहुत आशाजनक संकेत है। या तो साम्प्रदायिक भेद का झंझट ही खत्म करो, नहीं तो उनके अलग अधिकार उन्हें दे दो। कौंसिलों और असेंबलियों का कर्त्तव्य है कि वे स्कूल-कॉलेज, कुएँ तथा सड़क के उपयोग की पूरी स्वतंत्रता उन्हें दिलायें। जबानी तौर पर ही नहीं, वरन साथ ले जाकर उन्हें कुंओं पर चढ़ाएं। उनके बच्चों को स्कूलों में प्रवेश दिलायें।"

लेकिन भगतसिंह इस बात को भी बखूबी समझते थे कि दलित समुदाय की सामाजिक गुलामी उनकी आर्थिक गुलामी के सवाल से एकदम स्वतंत्र नहीं है और दोनों ही प्रकार की गुलामियों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए उन्हें देश के अन्य शोषित पीड़ित मजदूरों-किसानों के साथ संगठित होकर उस राज्य मशीनरी अथवा सत्ता के खिलाफ लड़ना होगा जो समाज के समस्त आर्थिक और सामाजिक ताने-बाने को ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के लिए कायम रखने का काम करती है और उसकी रक्षा करती है। भगतसिंह जानते थे कि इस ब्रिटिश नौकरशाही के समक्ष मात्र सुधारवादी ढंग से आवेदन-निवेदन के जरिए कुछ सीटों अथवा नौकरियों में महज कुछ आरक्षण आदि हासिल कर लेने मात्र से समाज का सामाजिक आर्थिक ढांचा आमूलचूल रूप से नहीं बदल पाएगा बल्कि महज उसमें कुछ सुधार ही हो पाएंगे। इसलिए भगतसिंह ने दलितों का आह्वान किया कि वे अपने को मात्र दलित ही न समझे बल्कि एक सोये हुए शेर के समान सर्वहारा समझें। उन्होंने अपने इसी लेख के अंत में दलितों को संबोधित करते हुए लिखा:

"अर्थात संगठनबद्ध हो अपने पैरों पर खड़े होकर पूरे समाज को चुनौती दे दो। तब देखना, कोई भी तुम्हें तुम्हारे अधिकार देने से इन्कार करने की ज़र्रत न कर सकेगा। तुम दूसरों की खुराक मत बनो। दूसरों के मुंह की ओर न ताको। लेकिन ध्यान रहे, नौकरशाही के झाँसे में मत फँसना। यह तुम्हारी कोई सहायता नहीं करना चाहती, बल्कि तुम्हें अपना मोहरा बनाना चाहती है। यही पूंजीवादी नौकरशाही तुम्हारी गुलामी और गरीबी का असली कारण है। इसलिये तुम उसके साथ कभी न मिलना। उसकी चालों से बचना। तब सब कुछ ठीक हो जाएगा। तुम असली सर्वहारा हो ... संगठनबद्ध हो जाओ। तुम्हारी कुछ भी हानि न होगी। बस गुलामी की जंजीरें कट जाएंगी। उठो, और वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बगावत खडो कर दो। धीरे-धीरे होने वाले सुधारों से कुछ नहीं बन सकेगा। सामाजिक आन्दोलन से क्रान्ति पैदा कर दो तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति के लिये कमर कस लो। तुम ही तो देश का मुख्य आधार हो, वास्तविक शक्ति हो, सोये हुए शेरो! उठो, और बगावत खड़ी कर दो ।"

लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि बाबा साहब इतने प्रतिभावान और भुक्तभोगी होते हुए भी दलितों की मुक्ति के लिए संघर्ष के सुधारवादी ढंग तक ही सीमित रहे और क्रांतिकारी अवस्थिति को न अपना सके जिसका अहम सवाल संगठित होकर सत्ता हासिल करने का सवाल था। सुधारवादी ढंग से इस संघर्ष का अपनी तर्कसंगत मंजिल पर पहुंचना संभव ही नहीं था और इस बात का खुद बाबा साहब को भी अहसास हो गया था। सन् 1936 में *जाति उन्मूलन* विषय पर जो लेख लिखा था वह उनके इस अहसास का सबूत है क्योंकि उसी लेख में वे इस निष्कर्ष पर पहुंच गए थे कि जाति उन्मूलन असंभव है और दलित जातियों को भी इस बात का पूर्ण अहसास हो चुका है कि बाबा साहब के बताए रास्ते से जाति उन्मूलन संभव नहीं है इसलिए उन्होंने अब अपनी-अपनी जातियों के नाम में ही 'गर्व' इज़ाद कर लिया है। गर्व से कहो कि हम फलां हैं, गर्व से कहो हम ढिकां हैं आदि आदि। यह बात भी दलितों के जहन में आ चुकी है कि संसदीय मार्ग से भी जाति उन्मूलन संभव नहीं है और इसी समझ की जोरदार घोषणा दलित युवा नेता श्री जिग्नेश मेवानी द्वारा गत् 31 दिसंबर को पुणे में यानी भीमा कोरेगांव की घटना से एक दिन पूर्व दिए गए उनके भाषण में अभिव्यक्त हुई थी कि 'जाति निर्मूलन सड़कों की लड़ाई से ही होगा, संसदीय मार्ग से नहीं'। लेकिन यह उन्हें भी स्पष्ट नहीं है कि सड़कों की लड़ाई किस-किस के बीच होगी? क्या मेहनतकश दलितों और मेहनतकश 'सवर्ण' जातियों के बीच सड़कों की लड़ाई से जाति निर्मूलन हो जाएगा? हरगिज नहीं, बल्कि दीवारें और भी पक्की होंगी। 'तिलक, तराजू

और तलवार, इनको मारो जूते चार' वाली लाईन कदापि दलित मुक्ति संघर्ष की सही लाइन नहीं हो सकती। हालांकि हम यहां जिग्नेश मेवानी पर यह आरोप नहीं लगा रहे हैं कि सड़कों की लड़ाई से उनका यही आशय था। हम समझते हैं कि सड़कों की लड़ाई का असली तात्पर्य मेहनतकश दलित जातियों और 'सवर्ण' जातियों के तमाम मजदूरों, मेहनतकशों, गरीब किसानों, आदिवासियों यानी अलग-अलग प्रकार से तमाम शोषितों-पीड़ित लोगां द्वारा संगठनबद्ध होकर सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष होगा। पूंजीवादी सत्ता की जगह दलितों-शोषितों पीड़ितों की सत्ता की स्थापना करनी होगी; राजनीतिक शक्ति उनके हाथों में आनी होगी जिसका मतलब है कि राष्ट्र के तमाम प्राकृतिक संसाधन, भूमि और उत्पादन के तमाम साधनों का नियंत्रण उनके हाथों में केन्द्रित होगा। इसके बाद ही वे समाज में व्याप्त तमाम प्रकार की ऊंच नीच और गैर-बराबरी को, चाहे सामाजिक हो चाहे आर्थिक वांछित कदम उठाते हुए, कानून बनाकर उन्हें लागू करते हुए मिटा सकते हैं। लेकिन बाबा साहब ब्रिटिश काल में भी और आजादी के बाद भी क्रांतिकारी मार्ग को खून खराबे का मार्ग बताते हुए उससे दूर ही नहीं रहे बल्कि उसका विरोध भी किया। आजादी के बाद उन्होंने अपने द्वारा बनाए हुए संविधान, उसमें किए गए आरक्षण के प्रावधान और पूंजीवादी संसदीय मार्ग के द्वारा ही सामाजिक आर आर्थिक समानता स्थापित करने का रास्ता दिखाया। इसमें कोई संदेह नहीं कि बाबा साहब ने जनवाद यानी समानता और भाईचारे के लिए राष्ट्रीय आंदोलन में एक पूरक संघर्ष की भूमिका निभाई और जनवाद के लिए लड़ाई की पहली मंजिल भारत को मिली आजादी, पूंजीवादी गणतांत्रिक संविधान और सरकार के रूप में सम्पन्न हुई। लेकिन जातिवादी सामंती व्यवस्था के अवशेष बचे रहे। और आर्थिक शोषण भी पूंजीवादी सत्ता कायम होने पर पूंजीवादी शोषण में रूपांतरित हो गया। अब हमारा यह पूंजीवादी जनतंत्र जाति व्यवस्था के सामंती अवशेषों को अपने स्वार्थ में कायम रखे हुए है। हर स्तर के चुनावों में जातिगत समीकरणों का ही बोलबाला रहता है। इसके अलावा समाज में शादी-ब्याह जातिगत सीमाओं के भीतर ही मुख्यत: होते हैं। तमाम जातियों के मेहनतकशों के बीच यदि ये दीवारें न रहें तो मानव द्वारा मानव के घोर शोषण पर टिकी यह पूंजीवादी व्यवस्था ज्यादा दिन चल न सकेगी। इसलिए पूंजीपति वर्ग अपने हितों के लिए इन प्राक्-पूंजीवादी अवशेषों को टिकाए रखन में ही अपनी भलाई देखता है और इन अवशेषों को अपने जीवन के दिन लंबे करने के लिए साधन के रूप में इस्तेमाल करता है। और इसी दृष्टि से अधिरचना में सभी अवशेषों की मौजूदगी की व्याख्या भी अंतिम विश्लेषण के रूप में समाज को आर्थिक स्थितियों से ही होती है। बाबा साहब ने कहा था कि आर्थिक समानता के बिना डैमोक्रेसी भी सच्ची डैमोक्रेसी नहीं हो सकती। इसलिए इन सारी स्थितियों से स्पष्ट निष्कर्ष और रास्ता यह निकलता है कि बिना पूंजीवादी सत्ता को ध्वस्त किए और दलितों, मजदूरों, गरीब किसानों, आदिवासियों द्वारा सत्ता बिना अपने हाथ में लिए न ता समाज में सामाजिक समानता स्थापित की जा सकती है और न ही आर्थिक।

रूस में भी फरवरी सन् 1917 की क्रांति के फलस्वरूप जब सत्ता पर साजिश और सांठ गांठ करते हुए रूस का पूंजीपति वर्ग सत्ता पर काबिज हो गया और मजदूरों किसानों को सत्ता अपने हाथों में लेने से रोक दिया तो वहां भी जनवादी क्रांति के कार्यभार अधूरे ही रह गए थे। और इसी आधार पर वहां भी यह बात उठी थी कि अब क्रांति की रणनीति क्या हो? लेनिन ने कहा था कि क्योंकि सत्तारूढ़ पूंजीपति वर्ग खुद जनवादी क्रांति को उसकी तार्किक मंजिल तक नहीं पहुंचाना चाहता और अपने हितों की पूर्ति के लिए ही सामंतवाद और साम्राज्यवाद से समझौता किए हुए है तथा सामंती अवशेषों को बनाकर कायम रखे हुए है तो ऐसी स्थिति में पूंजीपति वर्ग की सत्ता के खिलाफ ही समाजवादी क्रांति का रणनीतिक नारा होगा एवं समाजवादी क्रांति के फलस्वरूप आया हुआ समाजवादी राज्य ही जनवादी क्रांति के

कार्यभारों को अंजाम देगा। और ऐसा ही हुआ था। अक्तूबर क्रांति की चौथी सालगिरह पर यानी 1921 में लेनिन ने मेंशेविकों और समाजवादी क्रांतिकारियों की आलोचना करते हुए साफ कहा था कि वे :

"...पूंजीवादी जनवादी क्रांति तथा समाजवादी (**अर्थात्** सर्वहारा) क्रांति के पारस्परिक संबंध के बारे में हद से ज्यादा बकवास करते रहे हैं और कर रहे हैं। पिछले चार वर्षों ने इस बात को सोलह आने साबित कर दिया है कि इस बात के बारे में मार्क्सवाद की हमारी व्याख्या और इससे पहले की क्रांतियों के अनुभव का हमारा मूल्यांकन सही था। हमने पूंजीवादी-जनवादी क्रांति को **अंजाम तक** पहुंचा दिया है, जैसा पहले किसी ने नहीं किया है। हम पूर्णतः सचेतन रूप से समझ-बूझ कर तथा अडिग रूप से समाजवादी क्रांति की दिशा में **आगे** बढ रहे हैं, इस बात को जानते हुए कि **केवल संघर्ष** द्वारा ही यह तय होगा कि हम कहां तक (...) आगे बढ़ेंगे,.."

यहां लेनिन ने पूंजीवादी जनवादी क्रांति और समाजवादी क्रांति के पारस्परिक संबंध की बात की है। तथा मेंशेविकों और समाजवादी क्रांतिकारियों को जबरदस्त झाड़ पिलाते हुए लेनिन ने लिखा है कि पिछले चार वर्षों ने उनकी समझ को सोलह आने सही साबित कर दिया है। सवाल है कि 25 अक्तूबर 1917 से लेकर 25 अक्तूबर 1921 तक के चार वर्षों में लेनिन की किस समझ और बात को सोलह आने सही साबित किया? क्या थी वह बात? असल में बात यह थी कि 1917 की फरवरी क्रांति के बाद जब सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में चली गई और पूंजीपति वर्ग ने कृषि क्रांति से मुंह फेर लिया, राजतांत्रिक घराने, सामंती जमींदारों और चर्च आदि के कब्जे की जमीनों को छुआ तक नहीं और ऐसी स्थिति में लेनिन ने बिना भूमि क्रांति के अंजाम तक पहुंचे समाजवादी क्रांति का नारा दे दिया तो मेंशेविकों, समाजवादी क्रांतिकारियों और कुछ कम समझदार बोल्शेविकों ने भी लेनिन द्वारा दिए गए समाजवादी क्रांति के नारे का विरोध किया था और उसका मखौल उड़ाया था यह दलील देते हुए कि बिना भूमि क्रांति को अंजाम तक पहुंचाए कैसे समाजवादी क्रांति का नारा दिया जा सकता है? लेनिन ने तब पूंजीवादी जनवादी और समाजवादी क्रांति के पारस्परिक संबंध को समझाया था। उनकी रचना 'अप्रैल थीसिस' की यह एक मुख्य बात है। लेनिन ने कहा था और सन् 1905 से ही कहते चले आ रहे थे कि यदि पूंजीवादी-जनवादी क्रांति के फलस्वरूप सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथों में चली जाती है तो वे जनवादी क्रांति को उसके अंजाम तक नहीं ले जाएगा क्योंकि वह अपना क्रांतिकारी चरित्र खो चुका है और उसका जारशाही सामंती वर्ग से समझौता और गठबंधन हो चुका है। इसीलिए लेनिन ने फरवरी क्रांति के बाद कहा था कि अब जनवादी क्रांति और मुख्यतः भूमि क्रांति को सर्वहारा और किसानों के निर्धनतम हिस्से की सत्ता द्वारा ही भूमि क्रांति और जनवादी क्रांति को उसके अंजाम तक पहुंचाया जा सकता है। ऊपर दिए गए उद्धरण में लेनिन ने साफ लिखा है कि, 'हमने पूंजीवादी-जनवादी क्रांति को **अंजाम तक** पहुंचा दिया है'। 'अंजाम तक', इन दो शब्दों को लेनिन ने मोटे अक्षरों में लिखा है। समाजवादी क्रांति के फलस्वरूप ही रूस में राजतांत्रिक घराने, सामंती जागीरदारों, चर्चों आदि के कब्जे से 40करोड़ एकड़ भूमि का जब्तीकरण हुआ था और उसे किसानों में बांटा गया था। फरवरी बुर्जुआ क्रांति के जरिए सत्तारूढ़ पूंजीपति वर्ग ने तो इन जमीनों को छुआ तक भी नहीं था और कृषि क्रांति के इस कार्यभार को उसे सुधारों के जरिए धीरे-धीरे पूरा करने का भी वक्त नहीं मिला था। हालांकि फरवरी क्रांति के बाद भी रूस में भूमि पाने के लिए किसानों के विद्रोह हुए थे। फरवरी क्रांति के जरिए यदि मजदूरों-किसानों के संश्रय पर आधारित क्रांतिकारी जनवादी अधिनायकत्व कायम होता जैसा कि बोल्शेविक पार्टी का कार्यक्रम था तो भूमि क्रांति अपने अंजाम तक पहुंच जाती।

लेकिन वैसा हुआ नहीं क्योंकि सत्ता मजदूरों-किसानों के हाथों में न आकर प्रतिक्रियावादी पूंजीपति वर्ग के हाथों में चली गई थी। भारत में भी यदि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का समापन जनता की संगठित शक्ति के आधार पर क्रांतिकारी ढंग से होता तो यहां भी भूमि क्रांति का प्रश्न तुरंत ही हल हो जाता।

इस बात को हमें ध्यान में रखना चाहिए कि फ्रांसीसो क्रांति के बाद दुनिया भर का पूंजीपति वर्ग अपना क्रांतिकारी चरित्र खो चुका था और किसी भी देश में ऐसी स्थिति में नहीं रहा कि अपने हाथों में सत्ता लेने के बाद जनवादी क्रांति के कार्यभारों को क्रांतिकारी ढंग से अंजाम तक पहुंचा सके, बल्कि गैर-क्रांतिकारी ढंग से यानी सुधारों के जरिए ही मध्ययुगीनता के अवशेषों और कृषि क्रांति के कार्यभारों को पूरा करने का रास्ता अख्तियार करता है। यही बात रूस की फरवरी 1917 वाली पूंजीवादी जनवादी क्रांति से भी साबित हुई। बेशक फरवरी क्रांति के जरिए पूंजीवादी जनवादी क्रांति सम्पन्न हो चुकी थी,जैसा कि लेनिन ने 'अप्रैल थीसिस' में कहा था पर यह जनवादी क्रांति, अक्तूबर क्रांति के जरिए वजूद में आए समाजवादी राज्य द्वारा अंजाम तक पहुंच पाई थी, जैसा कि लेनिन ने अक्तूबर क्रांति की चौथी सालगिरह पर दिए गए भाषण से ऊपर दिए गए उद्धरण से स्पष्ट है। अत: इस बात में कोई विरोधाभास नहीं है कि जनवादी क्रांति सम्पन्न हो जाए और अपने अंजाम तक न पहुंचे। जनवादी क्रांति का सम्पन्न होना तो पूंजीपति वर्ग के सत्तारूढ़ हो जाने से ही हो जाता है, जैसाकि लेनिन ने एक जगह पूंजीवादी और समाजवादी क्रांति की तुलना करते हुए लिखा है कि "पूंजीवादी क्रांति सत्ता ग्रहण के होने पर ही पूरी हो जाती है जबकि समाजवादी क्रांति सत्ता ग्रहण से शुरु होती है।" पर जब सत्ता ग्रहण के जरिए पूंजीवादी क्रांति सम्पन्न तो हा जाती है पर अधूरी रह जाती है, अंजाम तक नहीं पहुंचती है फिर उसका अंजाम तक पहुंचाया जाना सर्वहारा क्रांति का कार्यभार बन जाता है। वह बात अलग है कि जनवादी क्रांति के बाद सत्तारूढ़ पूंजीपति वर्ग शनै: शनै: इस कार्यभार को अपने वर्ग स्वार्थ में सुधारों के जरिए पूरा कर दे। लेकिन समाजवादी क्रांति का रणनीतिक नारा इस बात की बाट नहीं जोह सकता कि सत्तारूढ़ पूंजीपति वर्ग सुधारों के द्वारा यानी ऊपर से कब तक इन कार्यभारों को पूरा करेगा। समाजवादी क्रांति के चरण का आरंभ तो वस्तुनिष्ठ रूप में तभी शुरु हो जाएगा जब सत्ता पूंजीपति वग के हाथों में पहुंच जाएगी, जैसा कि फरवरी क्रांति के तुरंत बाद रूस में हुआ था। यदि आज भी रमेश (कुतुबपुर) जैसे साथी यह समझते हैं कि भारत में अभी भी भूमि क्रांति का प्रश्न हल नहीं हुआ है तो उनसे हमारा यही कहना है कि भूमि क्रांति का यह कार्यभार सन् 1947 में पूंजीपति वर्ग के सत्तारूढ़ हो जाने के साथ ही लेनिन की शिक्षाओं के अनुसार समाजवादी क्रांति का कार्यभार बन गया था। अत: भूमि-सवाल का पूर्ण हल और ब्राह्मणवादी सामंती जाति-व्यवस्था के अवशेषों का पूर्ण खात्मा समाजवादी क्रांति के जरिए ही संभव है। लेनिन ने अक्तूबर क्रांति की चौथी सालगिरह पर दिए गए भाषण में यह भी स्पष्ट किया था कि:

"...हमारे यहां रूस में अब स्त्रियों की अधिकारहीनता अथवा अधिकार-अपूर्णता जैसी नीचता, वीभत्सता तथा दुष्टता, सामंतवाद तथा मध्ययुगीनता का वह घृणास्पद अवशेष बाकि नहीं है, जिसे बिना किसी अपवाद के संसार के हर देश का लोभी पूंजीपति वर्ग तथा मंदबुद्धि और भयभीत निम्न-पूंजीवादी वर्ग नया रूप दे रहा है।"

अत: हमारा यह दृढ़ मत है कि लेनिन की उक्त समझ और शिक्षा (जिसकी कि व्यवहार में भी सत्यता सिद्ध हुई) के आधार पर हमारे देश में भी पूंजीपति वर्ग के सत्तारूढ़ हो जाने के बाद जो जातिवादी सामंती अवशेष, सामाजिक असमानता, मध्ययुगीनता व पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अवशेष यानी महिलाओं के प्रति गैर-जनवादी मानसिकता आदि

आदि अवशेष भी समाजवादी क्रांति अथवा सर्वहारा के कार्यभारों से जुड़ चुके थे। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश के वामपंथियों ने लेनिन की इस प्रकार की शिक्षाओं का जो अनेक जगह लिखी मिलती हैं कोई नोटिस नहीं लिया। भारत में इस पूंजीवाद विरोधी समाजवादी क्रांति के कार्य को वही क्रांतिकारी पार्टी अंजाम दे सकती है जिसके नेताओं और सक्रिय कार्यकर्त्ताओं ने खुद अपने को संघर्ष के जरिए डी-क्लास ही नहीं, डी-कास्ट भी कर लिया हो। और अपने को डी-कास्ट करने का अर्थ महज यह नहीं होता कि सिर्फ घोषणा कर दी जाए कि मैं जाति की भावना से मुक्त हूं अथवा मैंने अपनी जाति का परित्याग कर दिया है। ठीक उसी प्रकार जैसे डी-क्लास होना भी मात्र इस घोषणा पर आधारित नहीं होता कि मैंने पूंजीपति वर्ग और उसकी भावनाओं-धारणाओं को त्याग दिया है। डी-क्लास और डी-कास्ट होने का संघर्ष एक कठिन और जटिल संघर्ष होता है मात्र घोषणाएं नहीं। डी-क्लास हुए बिना कोई भी व्यक्ति मजदूर वर्ग का सचेत प्रतिनिधि होने का दावा नहीं कर सकता और भारत में तो डी-क्लास होने के लिए हर क्रांतिकारी कार्यकर्त्ता को डी-कास्ट भी होना होगा। डी-कास्ट होने पर ही कोई व्यक्ति दलित वर्ग के क्रांतिकारी ढंग से मुक्ति संघर्ष का प्रतिनिधित्व अथवा नेतृत्व करने के काबिल हो सकता है। पर सवाल तो यह है कि इस प्रकार की किसी क्रांतिकारी पार्टी के अभाव में दलित अपने मुक्ति संघर्ष के लिए क्या रास्ता लें और क्या करें?

हम समझते हैं कि देशभर में दलित समुदाय के लोग विभिन्न स्तरों पर पूंजीवादी संसदीय राजनीति के मोह से मुक्त होकर, युक्तितर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर अपने ऐसे संगठन बनाएं जो जनवाद के लिए लड़ें यानी ब्राह्मणवादी-हिन्दुत्ववादी विचारधारा, हिन्दू देवी-देवताओं और अवतारों के प्रभाव से अपने को मुक्त करने का संघर्ष चलाएं; हिन्दुत्ववादी शक्तियों के हमलों के खिलाफ संगठित होकर लड़ाई लड़ें और इस लड़ाई में अन्य जातियों के तमाम समानता के पक्षधर मजदूरों-मेहनतकशों को, मजदूर यूनियनों को अपने साथ जोड़ें तथा गैर-दलितों के अन्य भरोसेलायक संगठनों के साथ मोर्चा कायम करें ताकि जाति उन्मूलन, सामाजिक अत्याचार और साथ ही साथ आर्थिक शोषण के विरुद्ध लड़ाई को व्यापक रूप दिया जा सके। बाबा साहब ने भी कहा था कि दलितों के दो शत्रु हैं: ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद। जन संघर्ष मंच हरियाणा इस प्रकार की लड़ाई और एक्के के लिए पहले से ही प्रयासशील और संघर्षरत है। इस संघर्ष को तीव्र करने और अंजाम तक पहुंचाने के लिए हम सब को शहीद भगतसिंह की दी हुई दो शिक्षाओं को हर घड़ी याद रखना होगा:

(क) "प्रत्येक मनुष्य को, जो विकास के लिए खड़ा है, रूढ़िगत विश्वासों के हर पहलू की आलोचना तथा उन पर अविश्वास करना होगा और उनको चुनौती देनी होगी। प्रत्येक प्रचलित मत की हर बात को हर कोने से तर्क की कसौटी पर कसना होगा।..." ('मैं नास्तिक क्यों हूं' लेख से, 1930)

(ख) "लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग-चेतना की जरूरत है। गरीब मेहनतकशों व किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिए कि तुम्हारे असली दुश्मन पूंजीपति हैं, इसीलिए तुम्हें इनके हथकंडों से बचकर रहना चाहिए और इनके हत्थे चढ़ कुछ न करना चाहिए। संसार के सभी गरीबों के, चाहे वे किसी भी जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र के हों, अधिकार एक ही हैं। तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम धर्म, रंग, नस्ल और राष्ट्रीयता व देश के भेदभाव मिटाकर एकजुट हो जाओ और सरकार की ताकत अपने हाथ में लेने का यत्न करो। इन यत्नों से तुम्हारा नुकसान कुछ नहीं

होगा, इससे किसी दिन तुम्हारी जंजीरें कट जाएंगी और तुम्हें आर्थिक स्वतंत्रता मिलेगी।" ('सांप्रदायिक दंगे और उनका इलाज', जून 1928)

एक और पहलू पर चर्चा जरूरी है। विचारगोष्ठी में 'बिगुल मजदूर दस्ता' के साथी अजय ने भी हिस्सा लिया था और उन्होंने जन संघर्ष मंच हरियाणा की ओर से बहस के लिए पेश किए गए पर्चे की आलोचना करते हुए कुछ प्रश्न उठाए थे। उनमें से एक पर तो पहले ही चर्चा की जा चुकी है कि जनवादी क्रांति का सम्पन्न होना और उसका अंजाम तक पहुंचना दो भिन्न बातें होती हैं। यानी जनवादी क्रांति का सम्पन्न हो जाना ही जरूरी नहीं कि वह अंजाम तक भी पहुंच चुकी हो। लेनिन के उद्धरणों द्वारा इसे ऊपर दर्शाया जा चुका है। पर्चे की आलोचना में उनका दूसरा बिन्दु था कि जाति-व्यवस्था वर्तमान में समाज व्यवस्था की अधिरचना में ही नहीं बल्कि समाज के भौतिक आधार में भी विद्यमान है। साथो अजय ने अपने संगठनों की ओर से एक पर्चा भी विचार गोष्ठी में वितरित किया था, जिसका शीर्षक है 'साम्प्रदायिक फासीवाद को ध्वस्त करो! जनता की फौलादी एकजुटता कायम करो!'। इस पर्चे में वर्तमान व्यवस्था के चरित्र बारे पृष्ठ 3 पर इस प्रकार लिखा है कि, "यह जातिवादी पितृसत्तात्मक पूंजीवादी व्यवस्था है।" अरविंद स्मृति न्यास के न्यासी मंडल द्वारा आयोजित चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी में 'जाति प्रश्न और उसका समाधान: एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण' विषय पर अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान की शोध टीम द्वारा जो आधार आलेख प्रस्तुत किया गया था उसमें इन्होंने और भी खोलकर लिखा कि:

"...जाति सामंती अवशेष मात्र नहीं है। इसका पूंजीवाद ने अपने ढांचे के साथ तंतुबद्धीकरण (articulation) कर लिया है, अपने हितोचित बदले रूप में इसे अपना लिया है। यह एक पूंजीवादी जाति-व्यवस्था है। यह आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-संबंधों के कुल योग) में सावयवी (organic)ढंग से गुंथी-बुनी है तथा वैचारिक-राजनीतिक-सामाजिक अधिरचना में इसकी प्रभावी उपस्थिति बनी हुई है।" (जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, जनवरी 2014, पृष्ठ 16-17)

यह तो सही है कि भारतीय पूंजीवादी समाज की वैचारिक-राजनीतिक-सामाजिक अधिरचना में जातियों की प्रभावी उपस्थिति बनी हुई है, पर यह कहना गलत है कि जाति सामंती अवशेष मात्र नहीं है। क्योंकि एक पूंजीवादी व्यवस्था में जातिवादी, सामंतवादी अथवा प्राक्-पूंजीवादी उत्पादन संबंध महज अवशेषों के रूप में ही मौजूद रह सकते हैं अन्यथा नहीं। और इस प्रकार के अवशेषों के कारण कोई भी पूंजीवादी व्यवस्था पूंजीवादी जाति-व्यवस्था, पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था आदि के नाम से नहीं पुकारी जा सकती। एंगेल्स ने S. Schmidt को मार्च 12, 1895 को लिखे अपने पत्र में लिखा है कि कोई भी समाज व्यवस्था शुद्ध नहीं होती। ना तो सामंती व्यवस्था शुद्ध सामंती होती है और न ही कोई पूंजीवादी व्यवस्था शुद्ध पूंजीवादी। अतीत की व्यवस्थाओं के अवशेषों के बावजूद पूंजीवादी व्यवस्था पूंजीवादी ही होती है। अत: जाति व्यवस्था के अवशेषों के बचे होने के आधार पर यदि कोई भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था को 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' कहे तो यह सही नहीं होगा। भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था को 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' कहने का अर्थ होगा कि इस व्यवस्था में सामाजिक श्रम-विभाजन की प्रक्रिया मूल्य के पूंजीवादी नियम और मुनाफों के लिए

भिन्न-भिन्न पूंजियों की प्रतियोगिता से निर्धारित नहीं हो रही बल्कि अंततः जातियों के आधार पर, यानी वंशानुगत आधार पर घटित हो रही है और इस प्रकार के जाति-आधारित श्रम विभाजन को देश के पूंजीवादी संविधान, कायदे-कानून और राज्य का संरक्षण प्राप्त है। इन साथियों का जो यह कहना कि जाति-व्यवस्था वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के "आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-संबंधों के कुल योग) में सावयवी (organic)ढंग से गुंथी-बुनी है", भी सिद्धांततः गलत है। ऐसा कहने का अर्थ होगा कि वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के तमाम उत्पादन संबंध (उत्पादन-संबंधों के कुल योग) अंततः जातियों पर आधारित हैं। अर्थात् पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच के उत्पादन संबंध, मालों के मालिकों के बीच के उत्पादन संबंध और पूंजीपतियों व पूंजीपतियों के बीच के आदि सभी उत्पादन संबंध जातियों पर टिके हैं। जोकि पूंजीवादी व्यवस्था को गूढ़ और समझ से परे बना देने के अलावा और कुछ नहीं है। अतः यह कहना कि "जाति सामंती अवशेष मात्र नहीं है", कतई सही नहीं ह। किसी पूंजीवादी व्यवस्था में किसी पुरानी व्यवस्था के अवशेषों की श्रृंखला को समझने के लिए रूस का उदाहरण लिया जा सकता है। रूस में सन् 1861 में भू-दास प्रथा का ऊपर से खात्मा कर दिया गया। पर भूदास व्यवस्था के अवशेष बचे रहे जिन्हें लेनिन ने सामंती अवशेष कह कर ही पुकारा है। लेकिन क्योंकि सत्ता का वर्ग चरित्र सामंती ही बना रहा इसलिए क्रांति का चरण जनवादी चरण ही चलता रहा। 1905 की क्रांति की पराजय के बाद फिर एक बार ऊपर से (स्तोलिपिन द्वारा) कुछ सामंती अवशेषों का खात्मा किया गया लेकिन इसके बावजूद भी सामंती अवशष बने रहे। फरवरी सन् 1917 की बुर्जुआ जनवादी क्रांति द्वारा सामंती सत्ता का तख्ता पलट दिया गया और रूस में पूंजीवादी सत्ता कायम हुई लेकिन इसके बावजूद भी पूंजीवादी सत्ता और सामंती जमींदारों और शक्तियों के बीच गठजोड़ हो जाने के कारण सामंती अवशेष फिर भी बने रहे जिनका अंतिम रूप से खात्मा अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद ही हो सका। इन सभी तथ्यों की पुष्टि के लिए अक्तूबर क्रांति की चौथी सालगिरह पर लेनिन द्वारा दिया गया भाषण पढ़ा जा सकता है। लेनिन के इसी भाषण से एक या दो उद्धरण ऊपर दिए भी गए हैं। सारांश रूप में बात यह है कि अतीत की व्यवस्थाओं के बचे हुए अवशेष किसी पूंजीवादी व्यवस्था में अवशेष ही माने जाते हैं बेशक शासक पूंजीपति वर्ग उन्हें कैसा भी रूप क्यों न दे।

आइये! अब थोड़ा और आगे बढं। इसी आलेख (जाति प्रश्न और उसका समाधानः एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण)में जाति प्रश्न को हेगेल के सहारे से और भी गूढ़ बनाते हुए 'बिगुल' वाले साथी लिखते हैंः

"सारे ब्योरे को समेटकर सूत्रवत यह कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था भारतीय पूंजीवाद के आर्थिक मूलाधार का आज भी एक हिस्सा है और सामाजिक-सांस्कृतिक-वैचारिक अधिरचना के स्तर पर इसकी मौजूदगी प्रचंड रूप से प्रभावी है। यह प्राक्-पूंजीवादी अधिरचना या उसका अवशेष नहीं है। यह एक पूंजीवादी अधिरचना है। यह एक पूंजीवादी जाति-व्यवस्था है। जाति-व्यवस्था पूंजीवाद द्वारा तंतुबद्ध ढंग से सहयोजित कर ली गई है। हेगेलीय शब्दावली का इस्तेमाल करें, तो कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था का उत्सादन (sublation) हो गया है, यानी निम्न स्तर की परिघटना (phenomenon) से यह उच्च (संश्लिष्ट) स्तर की परिघटना बन गयी है। जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अंतर्वस्तु संसाधित रूप में उपस्थित है।..." (वही, पृष्ठ 68-69, रेखांकन जोड़ा गया)

अब देखिए! कि जाति व्यवस्था के अवशेषों को गूढ़ और अबोधगम्य बनाने के लिए हेगेल को जबरदस्ती घसीट लिया गया और घोषित कर दिया कि जाति व्यवस्था का उत्सादन (सब्लेशन) हो गया है एवं अतीत की निम्न स्तर की

परिघटना अब 'उच्च स्तर की संश्लिष्ट परिघटना' बन गई है जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अंतर्वस्तु संसाधित रूप में उपस्थित है। यदि ये साथी उत्सादन (सब्लेशन) का कोई ठोस उदाहरण दने की जहमत उठाकर अपनी बात को समझाते तो फिर शायद ये खुद भी समझ जाते कि हेगेल को जबरदस्ती घसीट कर ये कितने बड़े असमाधेय अंतर्विरोध में फंस गए हैं। इन साथियों को यह मालूम होना चाहिए था कि जब उत्सादन की प्रक्रिया से कोई चीज निम्न परिघटना से उच्चतर स्तर की संश्लिष्ट परिघटना में पहुंचती है तो यह विकास की प्रक्रिया में एक स्वागत योग्य मंजिल होती है। उस पर न तो विलाप किया जाता है और न ही उसे बुरा कहकर कोसा जाता है। 'हेगेल की भाषा में' यदि अतीत की जातिवादी व्यवस्था उत्सादित रूप में वर्तमान भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था के आधार में मौजूद है तो फिर इन्हें यह भी कहना चाहिए था कि यह भारत के संदर्भ में समाज विकास की प्रक्रिया में एक स्वागत योग्य कदम है। पर ये ऐसा न कहकर उसे कोस रहे हैं, जिससे यही सिद्ध होता है कि उत्सादन की हेगेलीय अवधारणा के अर्थों को ये लोग कतई नहीं समझते हैं और अतीत की जातिवादी व्यवस्था के अवशेषों को हेगेल की आड़ लेकर वर्तमान भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था का चरित्र चित्रण "जातिवादी पितृसत्तात्मक पूंजीवादी व्यवस्था" के रूप में कर रहे हैं।

हेगेल के अनुसार, विकास की प्रक्रिया में जो चीज उत्सादित होकर सरल से संश्लिष्ट अथवा निम्न से उच्च स्तर में प्रवेश करती है तो उसका उन्मूलन भी होता है और वह बनी भी रहती है। लेकिन किसी परिघटना में किसी चीज का उन्मूलन भी हो जाना और उसका बने भी रहन की स्थिति से हर हाल में यह नहीं कहा जा सकता कि वह परिघटना एक निम्न स्तर की परिघटना से एक उच्च स्तर की संश्लिष्ट परिघटना में रूपांतरित हो गई है। इसे समझने के लिए भी हम ऊपर दिए गए रूसी उदाहरण का सहारा ले सकते हैं। सन् 1861 में सांमंती जारशाही सत्ता ने जब भूदास प्रथा का उन्मूलन भी कर दिया था और वह बनी भी रही थी तो इस स्थिति को हम 'हेगेलीय भाषा में' भूदासता का उत्सादन (sublation) हो गया है, नहीं कह सकते और न ही यह कह सकते कि भूदासता एक निम्न स्तर की परिघटना (phenomenon) से यह उच्च (संश्लिष्ट) स्तर की परिघटना बन गयी है। जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अंतर्वस्तु संसाधित रूप में उपस्थित है। परंतु यदि आप सन् 1861 में भूदासता के उन्मूलन हो जाने और उसके बने रहने को ही हेगेलीय भाषा में उत्सादन (सब्लेशन) कहने की जिद्द करते हो तो हमारा कहना है कि लेनिन ने भूदासता के खातमें के बाद बची भूदासता को, भूदासता के अवशेष ही कहा है, भूदासता का उत्सादन अथवा सब्लेशन नहीं। बेशक चाहे ऊपर से ही सही भूदासता के खातमें पर विलाप नहीं किया जा सकता। तो फिर प्रश्न उठता है कि हेगेलीय भाषा में जिस उत्सादन की बात ये साथी कर रहे हैं वह क्या है? जैसा कि ऊपर दिए उद्धरण में 'बिगुल' वाले साथियों ने खुद ही स्पष्ट किया है कि उत्सादन (sublation) एक निम्न स्तर की परिघटना (phenomenon) का उच्च (संश्लिष्ट) स्तर की परिघटना बन जाना ही होता है, जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अंतर्वस्तु संसाधित रूप में उपस्थित रहती है। आइए इसे भी एक उदाहरण की मदद से समझें।

गति के यांत्रिक रूप को लीजिए जोकि गति का एक सरलतम रूप है लेकिन गति का यह सरलतम रूप गति के उच्चतर रूप ऊष्मा में भी विद्यमान होता है पर ऊष्मा में यांत्रिक गति उत्सादित तौर पर विद्यमान होती है। ऊष्मा, यांत्रिक गति की परिघटना की अपेक्षा एक उच्च संश्लिष्ट स्तर की परिघटना होती है जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अंतर्वस्तु यानी यांत्रिक गति संशाधित रूप में मौजूद रहती है। विकास की प्रक्रिया में यह कोई प्रतिक्रियावादी चीज नहीं

होती बल्कि एक आगे बढ़ी हुई मंजिल होती है। विद्युत गति भी यांत्रिक गति के बिना संभव नहीं है, यांत्रिक गति विद्युत गति में उत्सादित तौर पर विद्यमान रहती है; रासायनिक और जैव गतियां, गति के और भी संश्लिष्ट रूप है जिनमें यांत्रिक गति उत्सादित तौर पर मौजूद रहती है। तो हम देखते हैं कि उत्सादन की प्रक्रिया के जरिए यांत्रिक गति, गति के उच्चतर रूपों में वस्तुनिष्ठ तौर पर उत्सादित रूप में मौजूद रहती है पर गति के उच्चतर संश्लिष्ट रूप के नामकरण में उसे कोई स्थान नहीं मिलता। उदाहरण के तौर पर हम रासायनिक गति को रासायनिक यांत्रिक गति नहीं कहते बल्कि महज रासायनिक गति ही कहते हैं। अब यदि 'हेगेलीय भाषा में' जातिवाद वर्तमान भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था में उत्सादित तौर पर मौजूद है तो इसे भी पूंजीवादी जातिवादी व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह कि जब विकास की प्रक्रिया में पूर्व की निम्न स्तर की मंजिल (जातिवादो व्यवस्था) आगे की उच्चतर संश्लिष्ट मंजिल में उत्सादित तौर पर मौजूद रहती है तो फिर इस पर रोने-धोने और विलाप करने की बात ही क्या रह जाती है? फिर तो इसे समाज विकास में एक स्वागतयोग्य मंजिल के रूप में ही मान्यता मिलनी चाहिए थी। पर ऐसा नहीं है। अर्थात वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में अतीत का जातिवाद उत्सादन के तौर पर मौजूद नहीं बल्कि प्रतिक्रियावादी अवशेषों के तौर पर घुला-मिला हुआ है। इनके अनुसार यदि भारतीय शासक पूंजीपति वर्ग द्वारा अतीत की जातिवादी व्यवस्था को उत्सादन के जरिए अपनी पूंजीवादी व्यवस्था के साथ जाड़ लिया है तो इसे हेगेलीय भाषा में प्रतिक्रियावादी नहीं बल्कि प्रगतिशील कदम ठहराया जाता है। लेकिन पूंजीपति वर्ग द्वारा जाति व्यवस्था के इस प्रकार के 'उत्सादन' को शायद बिगुल नेतृत्व भी प्रगतिशील कदम के तौर पर मान्यता देने को तैयार नहीं होगा। और यही वह असमाधेय अंतर्विरोध है जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। अत: वर्तमान भारतीय पूंजीवादी समाज व्यवस्था में अतीत की जातिवादी व्यवस्था के मात्र अवशेष ही मौजूद हैं। हेगेलीय द्वन्द्ववादी अवधारणा 'उत्सादन' अथवा हेगेलीय द्वन्द्ववाद के 'निषेध का निषेध' नियम को भारतीय जातिवादी व्यवस्था पर लागू करके इसे उच्च स्तर की संश्लिष्ट परिघटना की संज्ञा देना, हेगेल और मार्क्सीय द्वन्द्ववाद के नियमों से अपना अज्ञान प्रदर्शित करने के अलावा और कुछ नहीं है। अतीत के सामंती अवशेषों और निम्नतर स्तर की परिघटना का उच्च स्तर की संश्लिष्ट परिघटना में उत्सादित तौर पर मौजूद रहने के अंतर को लेनिन की नीचे दी गई इन तीन पंक्तियों से (जो पहले ही पर्चे में ऊपर उद्धृत की हुई हैं) बखूबी समझा जा सकता है, जो पंक्तियां लेनिन के अक्तूबर क्रांति की चौथी सालगिरह (1921) के भाषण से ली गई हैं:

"...हमारे यहां रूस में अब स्त्रियों की अधिकारहीनता अथवा अधिकार-अपूर्णता जैसी नीचता, वीभत्सता तथा दुष्टता, सामंतवाद तथा मध्ययुगीनता का वह घृणास्पद अवशेष बाकि नहीं है, जिसे बिना किसी अपवाद के संसार के हर देश का लोभी पूंजीपति वर्ग तथा मंदबुद्धि और भयभीत निम्न-पूंजीवादो वर्ग नया रूप दे रहा है।"

लेनिन ने कहा कि सामंतवाद तथा मध्ययुगीनता के घृणास्पद अवशेषों को नया रूप देकर हर देश का लोभी शासक पूंजीपति वर्ग तथा मंद बुद्धि और भयभीत निम्न-पूंजीवादी वर्ग अपने हितों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करता है। यहां लेनिन ने सामंती तथा मध्ययुगीनता के अवशेषों को पूंजीपति वर्ग द्वारा अपने वर्ग स्वार्थ में नया रूप दिए जाने की बात कही। 'बिगुल' वाले साथी सामंती अवशेषों को पूंजीपति वर्ग द्वारा यह नया रूप दिए जाने को ही हेगेल की आड़ लेकर शायद सामंतवाद के उत्सादन की संज्ञा दे डालें। लेकिन उत्सादन इसे किस आधार पर कहें? उत्सादन की परिभाषा तो 'बिगुल' वाले साथियों ने खुद ही स्पष्ट की है कि उत्सादन (sublation) एक निम्न स्तर की परिघटना

(phenomenon) का उच्च (संश्लिष्ट) स्तर की परिघटना बन जाना होता है, जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अंतर्वस्तु संसाधित रूप में उपस्थित रहती है और उत्सादन की इस परिभाषा के आधार पर देखें तो सामंती अवशेषों को नया रूप देकर पूंजीपति वर्ग द्वारा इस्तेमाल किए जाने को, सामंतवाद का उत्सादन हरगिज नहीं कहा जा सकता और यदि कहा जा सकता होता तो लेनिन खुद ही कह देते। और फिर यदि सामंती अवशेषों को नया रूप दिए जाने जैसी लेनिन द्वारा कही सरल सी बात को ही हेगेल को बीच में घसीटकर सामंतवाद का उत्सादन कहें तो इसकी क्या जरूरत है? एक सरल सी चीज को अपने पांडित्य प्रदर्शन का शिकार बनाकर बेमतलब और हास्यास्पद रूप से जटिल बना देने से हासिल क्या होगा? दूसरी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि लेनिन ने किसी भी पूंजीवादी व्यवस्था को जिसमें शासक पूंजीपति वर्ग सामंती अवशेषों को नया रूप देकर अपने शासन के स्वार्थ में उन्हें इस्तेमाल करता है पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था नहीं कहा जैसा कि 'बिगुल' वाले साथी भारत की वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को पूंजीवादी-जाति व्यवस्था की संज्ञा देते हैं और शायद इसी मकसद से ही इन्हें हेगेल की भाषा और उनकी उत्सादन की अवधारणा वाली बैसाखियों की जरूरत पड़ी। प्रतिक्रियावादी पूंजीपति वर्ग तो अंधविश्वासों को भी नया रूप देकर अपने हितों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करता है तो क्या इसे भी हेगेलीय भाषा में अंधविश्वास का उत्सादन कहंगे? क्या यह अत्यंत हास्यास्पद नहीं होगा?

यहां पर हेगेलीय उत्सादन की अवधारणा पर एक और पहलू से भी विचार करना प्रासंगिक होगा और वह पहलू है द्वन्द्ववाद का निषेध के निषेध का नियम। जिसके द्वारा भी एंगेल्स ने उर्ध्वपातन (sublation) का घटित होना दिखाया है। जैसाकि ऊपर चर्चा में आया कि 'उत्सादन (sublation) एक निम्न स्तर की परिघटना (phenomenon) का उच्च (संश्लिष्ट) स्तर की परिघटना बन जाना होता है, जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अंतर्वस्तु संसाधित रूप में उपस्थित रहती है', ठीक इसी प्रकार एंगेल्स ने अपनी रचना *ड्यूहरिंग मत-खण्डन* के अध्याय 13 के परिशिष्ट में निषेध का निषेध नियम बारे लिखा है, "...इस निषेध का निषेध इस प्रकार होता है कि पुराने का एक उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादन होता है;..." (पृष्ठ 548)। और एंगेल्स ने अपनी इसो रचना के अध्याय 13 में निषेध का निषेध नियम की प्रक्रिया से अनेक क्षेत्रों से पुराने का एक उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादित होने के अनेक उदाहरण भी दिए हैं। लेकिन यहां पर कार्ल मार्क्स की एक रचना से इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया जाना ज्यादा उपयुक्त होगा। कार्ल मार्क्स ने अपनी रचना *दर्शन की दरिद्रता* (अंग्रेजी संस्करण) के पृष्ठ 131 पर सामंती इजारेदारी से पूंजीवादी इजारेदारी तक के विकास को निषेध के निषेध की प्रक्रिया द्वारा समझाया है। उन्होंने यहां सामंती इजारेदारी को थीसिस के रूप में लिया और उसके निषेध यानी प्रतियोगिता को एंटीथीसिस कहा तथा पुनः इस प्रतियोगिता के निषेध को सिंथेसिस कहा जोकि विकास की प्रक्रिया में निषेध का निषेध के जरिए पूंजीवादी इजारेदारी के रूप में अस्तित्व में आया। अर्थात पूंजीवादी इजारेदारी निम्न स्तरीय सामंती इजारेदारी की परिघटना से उच्चतर स्तर की संश्लिष्ट परिघटना के रूप में ही सामने आई है। और यह विकास की वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया का फल है। लेकिन जातिवादी व्यवस्था पर विकास की यह वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया लागू नहीं होती कि जाति व्यवस्था भी निषेध के निषेध द्वारा उच्चतर स्तर पर पुनरुत्पादित हुई हो। अतः वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में अतीत की जातिवादी व्यवस्था के अवशेष ही बचे हैं। इन अवशेषों को हेगेलीय भाषा में न तो उत्सादन (sublation)की संज्ञा दी जा सकती है और न हो निषेध का निषेध के जरिए उर्ध्वपातन(sublation) की। और अतीत की जाति-व्यवस्था के निषेध का निषेध हुआ ही नहीं तो फिर वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को उच्च स्तर पर पुनरुत्पादित जाति-व्यवस्था अथवा पूंजीवादी जाति-व्यवस्था नहीं कहा जा सकता जैसा कि 'बिगुल' वालों का दावा है।

बल्कि कहना चाहिए कि यह एक पूंजीवादी व्यवस्था है जिसकी अधिरचना यानी राजनीति, राज्यमशीनरी, नौकरशाही, सामाजिक राजनीतिक संस्थानों, शादी-ब्याहों के निर्णय, रीति रिवाजों आदि में जाति-आधारित मानसिकता और जातिगत ऊंच-नीच की भावनाओं का प्रचंड दखल है लेकिन जिसमें प्रत्येक नागरिक को अपना-अपना पेशा चुनने की पूर्ण पूंजीवादी स्वतंत्रता और संवैधानिक अधिकार है।

उत्पादन-संबंधों के कुल योग की मार्क्सीय अवधारणा की सही समझ बारे

अरविंद स्मृति न्यास के न्यासी मंडल द्वारा प्रकाशित '*जाति प्रश्न और मार्क्सवाद*' प्रकाशन में उत्पादन संबंधों के कुल योग की अवधारणा बारे 'बिगुल' नेतृत्व की जो समझ उजागर होती है, वह चौंकाने वाली है। इस नेतृत्व की उत्पादन-संबंधों के कुल योग की मार्क्सीय अवधारणा गंभीर रूप से त्रुटिपूर्ण है। एंगेल्स द्वारा लिखित *राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास* की भूमिका (जनवरी 1859) में इस अवधारणा बारे निम्न प्रकार से लिखा गया है:

"...अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित संबंधों में बंधते हैं जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के ये संबंध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की **एक निश्चित मंजिल के अनुरूप** होते हैं। इन उत्पादन संबंधों का कुल योग ही समाज का आर्थिक ढांचा है - वह असली बुनियाद है, जिस पर कानून और राजनीति का ऊपरी ढांचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उलटे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।..." (जोर हमारा)

एंगेल्स की रचना से दिया गया यह उद्धरण निर्विवाद रूप से स्पष्ट कर देता है कि किसी निश्चित मंजिल की समाज व्यवस्था के आथिक ढांचे को जिन उत्पादन संबंधों का कुल योग निर्मित करता है वे उत्पादन संबंध उसी निश्चित मंजिल की व्यवस्था के अनुरूप होते हैं। अर्थात् किसी निश्चित मंजिल की समाज व्यवस्था के आर्थिक ढांचे को निर्मित करने वाले उत्पादन संबंधों के कुल योग में उत्पादन के वे संबंध जो उस समाज व्यवस्था की निश्चित मंजिल के अनुरूप नहीं होते, शामिल नहीं होते। उदाहरण के तौर पर समाज व्यवस्था की पूंजीवादी मंजिल के उत्पादन संबंधों का कुल योग पूंजीवादी उत्पादन संबंधों का ही कुल योग होगा, न कि वह 'कुल योग' जिसमें अतीत की समाज व्यवस्थाओं के उत्पादन संबंधों के अवशेष भी एक अंश या घटक हों। लेकिन उत्पादन संबंधों के कुल योग की इस मार्क्सीय अवधारणा के विपरीत 'बिगुल' नेतृत्व की समझ है कि उत्पादन संबंधों के कुल योग की अवधारणा का अर्थ समाज व्यवस्था की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप उत्पादन संबंधों के कुल योग की न होकर विगत में गुजर गई मंजिलों के उत्पादन संबंध के अवशेष भी उस कुल योग का एक अंश अथवा घटक होते हैं। 'बिगुल' नेतृत्व भारत की वर्तमान समाज व्यवस्था को एक पूंजीवादी समाज व्यवस्था के रूप में स्वीकार करता है तो इस समाज व्यवस्था का आर्थिक ढांचा भी केवल उन उत्पादन संबंधों के कुल योग से निर्मित होना चाहिए जो समाज की पूंजीवादी व्यवस्था के अनुरूप हों। जो उत्पादन संबंध पूंजीवादी समाज व्यवस्था के अनुरूप नहीं हैं उन्हें पूंजीवादी व्यवस्था के उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा नहीं बनाया जा सकता बल्कि उन संबंधों को अतीत के बचे अवशेषों के रूप में ही स्वीकारा जाएगा।

हां, यदि आप भारतीय समाज व्यवस्था का एक पूंजीवादी समाज व्यवस्था के तौर पर आकलन ही नहीं करते फिर बात उलट जाएगी। यानी यदि आप इस समाज व्यवस्था को अर्धऔपनिवेशिक-अर्धसामंती व्यवस्था के तौर पर मान्यता देते हैं तब अवश्य ही अतीत के बचे खुचे सामंती संबंध अवशेष मात्र न होकर व्यवस्था के उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा गिने जाएंगे। जैसे कि अरविंद न्यास के नेतृत्व ने ब्रिटिश कालीन समाज व्यवस्था के मूलाधार का विश्लेषण करते हुए लिखा है:

"...जाति-व्यवस्था अब भी आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-संबंधों के कुल योग) का अंग थी, पर वही अकेले आर्थिक मूलाधार नहीं रह गई थी। जहां तक अधिरचना का प्रश्न है, वह मुख्यत: और मूलत: सामंती अधिरचना बनी रही जिसका मुख्य आधार अर्द्ध-सामंती अधिरचना बनी रही जिसका मुख्य आधार अद्ध-सामंती भूमि संबंध थे।..." (*जाति प्रश्न और मार्क्सवाद*, पृष्ठ 66)

यहां जाति-व्यवस्था के उत्पादन संबंध औपनिवेशिक-अर्द्धसामंती समाज व्यवस्था के मूलाधार अथवा उत्पादन संबंधों के कुल योग के इसलिए इस आधार पर अंग थे क्योंकि वे उत्पादन संबंध समाज के विकास की तत्कालीन निश्चित मंजिल अर्थात् औपनिवेशिक-अर्द्धसामंती समाज व्यवस्था के उत्पादन संबंधों के अनुरूप थे। लेकिन जाति व्यवस्था क इन्हीं उत्पादन संबंधों को यदि आप पूंजीवादी समाज व्यवस्था के मूलाधार अथवा उत्पादन संबंधों के कुल योग का अंग बनाओगे तो फिर यह उत्पादन संबंधों के कुल योग की मार्क्सीय अवधारणा के अनुरूप नहीं होगा क्योंकि मार्क्सीय अवधारणा के अनुसार जिन उत्पादन संबंधों क कुल योग की बात होती है तो वह समाज के विकास की किसी निश्चित मंजिल के अनुरूप उत्पादन संबंधों के योग की होती है और जाति-व्यवस्था के उत्पादन संबंध पूंजीवादी व्यवस्था के उत्पादन संबंधों के अनुरूप नहीं होते और अरविंद न्यास नेतृत्व वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था का 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' सिद्ध करने के लिए यही गलती कर रहा है, देखें वे वर्तमान व्यवस्था के उत्पादन संबंधों के कुल योग बारे क्या लिखते हैं:

"...हाँ, कथित 'अस्वच्छ' काम अभी भी दलितों के जिम्मे है। दस्तकारी का सैक्टर एकदम सिकुड़ गया है, पर उसमें अभी भी 'कमीन' मुस्लिम जातियाँ और दलित-अति पिछड़ी दस्तकार जातियाँ ही काम करती हैं, अन्य जातियों की दखल नगण्य है। इस स्थिति को किस रूप में सूत्रबद्ध किया जाए? 'उत्पादन-संबंधों के कुल योग' (आर्थिक मूलाधार) में एक हिस्सा अभी भी जातिगत श्रमविभाजन का और जातिगत स्वामित्व के रूपों का है। यानी जाति-व्यवस्था अभी भी मूलाधार का एक हिस्सा है, पर एक छोटा हिस्सा है। हाँ, अधिरचनात्मक धरातल पर अभी भी उसकी प्रबल मौजूदगी है, प्रभावी मौजूदगी है।..." (वही, पृष्ठ 67)

अब इन्हें कौन बताए कि उत्पादन के संबंधों के कुल योग संबंधी सूत्रीकरण उत्पादन के उन संबंधों का किसी निश्चित मंजिल के साथ उनकी अनुरूपता पर आधारित होता है न कि मनमर्जी से किन्ही भी बेमेल संबंधों को किसी पिटारे में भर देना। अरविन्द न्यास का नेतृत्व खुद लिखता है कि देश में जाति आधारित दस्तकारी के उत्पाद का एक छोटा हिस्सा है और दूसरा यह कि कथित अस्वच्छ काम अभी भी दलितों के जिम्मे है। यह नेतृत्व यह भी जानता है कि इस प्रकार का उत्पाद अथवा उत्पादन संबंध न तो पूंजीवादी उत्पाद है और न ही पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के ये अनुरूप हैं (लेकिन जातियों और जन्म के आधार पर कोई भी व्यक्ति किसी पेशे से बंधा नहीं है) तो फिर जो उत्पादन संबंध

समाज की पूंजीवादी मंजिल के उत्पादन संबंधों के ही अनुरूप नहीं है फिर वे उत्पादन संबंध पूंजीवादी 'आर्थिक ढांचे' अथवा 'मूलाधार' अथवा 'उत्पादन संबंधों के कुल योग' का अंग कैसे बन सकते हैं? यदि आप स्वीकारते हैं कि वर्तमान समाज व्यवस्था मूलत: और मुख्यत: एक पूंजीवादी समाज व्यवस्था है तो फिर इस व्यवस्था के उत्पादन संबंधों का कुल योग भी इस व्यवस्था के अनुरूप विभिन्न उत्पादन संबंधों का ही कुल योग होगा न कि प्राक्-पूंजीवादी और पूंजीवादी उत्पादन संबंधों का कुल योग। यदि आप कहते हो कि जाति व्यवस्था के उत्पादन संबंध भी वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के मूलाधार अथवा उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा हैं तो फिर आप टेढ़े ढंग से यह कहते हो कि वर्तमान व्यवस्था मूलत: एक पूंजीवादी व्यवस्था नहीं बल्कि एक प्राक्-पूंजीवादी व्यवस्था है। जो कम्युनिस्ट ग्रुप वर्तमान समाज व्यवस्था का अर्द्धऔपनिवेशिक एवं अर्द्धसामंती के रूप में मूल्यांकन करते हैं मार्क्सवाद के अनुसार वे तो यह बात कह सकते हैं कि जाति व्यवस्था के उत्पादन संबंध वर्तमान समाज के मूलाधार अथवा उत्पादन संबंधों के कुल योग का हिस्सा हैं लेकिन जो संगठन वर्तमान व्यवस्था को अर्द्धसामंती-अर्द्धऔपनिवेशिक मंजिल से आगे निकली हुई समाज व्यवस्था मानते हैं यानी मूलत: पूंजीवादी व्यवस्था मानते हैं तो फिर वे मार्क्सवाद की ऐतिहासिक भौतिकवादी मूल शिक्षाओं के विरुद्ध जाकर ही यह अवस्थिति अपना सकते हैं कि उत्पादन के प्राक्-पूंजीवादी संबंध वर्तमान पूंजीवादी समाज के मूलाधार अथवा उत्पादन संबंधों के कुल योग का अंग हैं। यह भी 'बिगुल' वालों का एक असमाध्येय स्वविरोध है कि एक तरफ तो यह अवस्थिति अपनाते हैं कि देश में मूलत: पूंजीवादी व्यवस्था कायम है और दूसरे यह स्थिति अपनाते हैं कि इस पूंजीवाद का आर्थिक ढांचा यानी मूलाधार प्राक्-पूंजीवादी है। 'बिगुल' वालों द्वारा वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था का मूल्यांकन 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' के तौर पर किया जाना इसी स्वविरोध की अभिव्यक्ति है।

आधार और अधिरचना का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी संबंध

किसी समाज व्यवस्था के आधार और अधिरचना के पारस्परिक संबंध को भी एंगेल्स की रचना से ऊपर दिए गए उद्धरण से स्पष्ट तौर पर समझा जा सकता है कि समाज का आधार उसका आर्थिक ढांचा होता है, जिसका निर्माण उस निश्चित समाज व्यवस्था के अनुरूप विभिन्न उत्पादन संबंधों के कुल योग से होता है। अर्थात् कोई भी समाज व्यवस्था उसके अनुरूप निश्चित उत्पादन के संबंधों के कुल योग पर आधारित होती है तथा समाज की अधिरचना यानी राजनीतिक संस्थाएं, राजसत्ता, विचारधारा आदि समाज के आधार से पैदा होती हैं और आधार पर अपना प्रभाव डालती हैं। शासक वर्ग या वर्गों की राजसत्ता, राजनीतिक संस्थाएं और उसके सामाजिक विचार उस समाज व्यवस्था को कायम रखने की भूमिका निभाते हैं तथा शोषक वर्ग अतीत की प्रतिक्रियावादी सामाजिक प्रथाओं, कुरीतियों और रूढ़ियों को भी अपनी समाज व्यवस्था की मजबूती के लिए कायम रखने का भरसक प्रयत्न करते हैं। लेकिन ये अतीत की प्रतिक्रियावादी सामाजिक कुरीतियां, रूढ़ियां और प्रथाएं उस समाज व्यवस्था के आधार का स्थान नहीं ले सकतीं। कम्युनिस्टों को आधार और अधिरचना के इस द्वन्द्वात्मक संबंध के सिद्धांत का सुसंगत रूप से अपने दृष्टिकोण का हिस्सा बनाना चाहिए। ऐसा कभी भी नहीं होना चाहिए कि हम वर्तमान समाज की विचारधारा अथवा अतीत की प्रतिक्रियावादी कुरीतियों-प्रथाओं को समाज व्यवस्था का आधार ही बना बैठें। ऐतिहासिक भौतिकवाद संबंधी इस प्रकार की मौलिक और सरल बातों की चर्चा यहां इसलिए करनी पड़ रही है कि 'बिगुल मजदूर दस्ता' के नेतृत्वकारी साथियों का दृष्टिकोण भी इस लिहाज से सुसंगत नहीं है। अरविंद स्मृति न्यास ने *जाति प्रश्न और मार्क्सवाद* शीर्षक से जो पुस्तक

प्रकाशित की है उसमें एक लेख अभिनव सिन्हा का भी है। अपने इस लेख में अभिनव सिन्हा ने एक जगह वर्तमान में जाति संबंधी कुछ पहलुओं की चर्चा की है जिसमें उन्होंने दिखाया कि वर्तमान में जाति के दो पहलू समाप्ति की ओर बढ़ रहे हैं, जिनमें पहला है आनुवांशिक अथवा जन्म के आधार पर श्रम विभाजन और पेशे का पहलू तथा दूसरा है खान-पान से जुड़े जाति आधारित पूर्वाग्रहों का पहलू। जाति संबंधी और एक तीसरे पहलू की चर्चा उन्होंने यहां की है और वह पहलू है 'सजातीय विवाह की प्रथा' का पहलू। इस पहलू को उन्होंने पितृसत्ता के नए रूप में बरकरार रहन के कारण के इलावा यहां तक लिख डाला कि वर्तमान पूंजीवादी जाति व्यवस्था भी इसी सजातीय विवाह की प्रथा पर आधारित है। यानी सजातीय विवाह की प्रथा को उन्होंने वर्तमान पूंजीवादी समाज व्यवस्था का आधार ही ठहरा दिया। यानी अधिरचना का एक पहलू सारी समाज व्यवस्था का आधार बन गया। उनके लेख का प्रांसगिक अंश इस प्रकार है:

"एक पहलू है जो अभी भी बरकरार है और वह पहलू है सजातीय विवाह की प्रथा। और इसका कारण एकदम ठीक यही है कि इसका पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से कोई बैर नहीं है। वास्तव में, यह पूंजीवाद के लिए बेहतर है और मेल खाता है। पूंजीवाद के दौर में पितृसत्ता का भी नये रूप में बरकरार रहने का यही कारण है। और ये दोनों कारक एक-दूसरे को बल देते हैं, यानी कि पितृसत्ता सजातीय विवाह पर आधारित पूंजीवादी जाति व्यवस्था का, और पूंजीवादी जाति व्यवस्था पूंजीवादी पितृसत्ता को। और ये दोनों मिलकर पूंजीवादी व्यवस्था और पूंजीपति वर्ग को अपने दमन और शोषण की मशीनरी को चाक-चौबंद करने अवसर देते हैं।" (वही, पृष्ठ 133-34, रेखांकन जोड़ा गया)

कितनी हैरानी की बात है कि एक तो वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को, जिसमें अतीत की जाति व्यवस्था के अवशेष विद्यमान हैं, उन अवशेषों को उत्पादन संबंधों के कुल योग में शामिल करके इस व्यवस्था को प्राक्-पूंजीवादी जाति व्यवस्था बना देना और फिर इस व्यवस्था को 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' की संज्ञा देना और फिर इस 'पूंजीवादी जाति व्यवस्था' का आधार सजातीय विवाह की प्रथा को बता देना, मार्क्सवाद के साथ खिलवाड़ नहीं तो क्या है? असल मं जब किसो गलत अवस्थिति का किसो भो पकार स सिद्ध करना हा तब एस हो पापड बलन पडत ह। अभिनव सिन्हा का यदि वतमान पजोवादो व्यवस्था का 'पजोवादो जाति-व्यवस्था' सिद्ध करना ह ता महज इस मकसद स हो माक्सवाद विराधो भाववाद क इस दलदल मं उतरना पडा कि पजोवादो व्यवस्था का आधार हो सजातोय विवाह को पथा का ठहराना पडा। यानो सिद्धातां को जा भो ताड-मराड करनो पड पजोवादो व्यवस्था का 'पजोवादो जाति-व्यवस्था' सिद्ध करक हो दम लना ह। यह मार्क्सवाद एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद के वैज्ञानिक सिद्धांतों क निजीकरण क अलावा आर कछ नहों। साथिया! मार्क्सवाद के इन सब मौलिक सिद्धांतों पर एक गंभीर और स्वस्थ बहस की दरकार है।

ऊपर की गई तमाम चर्चा के मद्देनज़र 'बिगुल' वालों की अवस्थिति बारे एक विरोधाभास अथवा स्वविरोध का जिक्र किया जाना जरूरी है। एक तरफ तो समाज व्यवस्था बारे इनका आकलन है कि वर्तमान समाज व्यवस्था एक 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' है, यानी इस व्यवस्था के मूलाधार में जातियां और जातिवादी उत्पादन संबंध मौजूद हैं, जिसका अर्थ होगा कि इस व्यवस्था में जातियों के आधार पर भी सामाजिक श्रम-विभाजन मौजूद है और इस प्रकार के श्रम विभाजन को राज्य का संरक्षण प्राप्त है। दूसरी तरफ ये दलित जातियों के संवैधानिक आरक्षण बारे ऊहा पोह की स्थिति में हैं। इनका कहना है कि न तो ये आरक्षण के पक्ष में है और न ही उसके खिलाफ। इनका कहना है कि ये आरक्षण के पक्ष या विपक्ष में होने की दोनों ही अवस्थितियों से ऊपर हैं जिसे इन्होंने 'तीसरा पक्ष' की संज्ञा दी है और इस बारे

एक पुस्तिका 'आरक्षण: पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष' शीर्षक देकर इन्होंने प्रकाशित की हुई है। पुस्तिका के इस शीर्षक से भी दिखाई पड़ता है कि यहां भी इन्होंने हेगेलीय द्वन्द्ववादी त्रिक (triad) की अवधारणा, जिसे दर्शन के क्षेत्र में आमतौर पर वाद, प्रतिवाद और संवाद के रूप में जाना जाता है, को बैसाखो के तौर पर इस्तेमाल किया है। हेगेल के वाद, प्रतिवाद और संवाद के प्रयोग का अनेक स्थितियों में कोई स्कोप नहीं होता, जैसे कि यदि कोई कहे कि वह न तो पूंजीवाद के पक्ष में है और न ही इसके प्रतिवाद समाजवाद के पक्ष में है बल्कि वह इन दोनों से ऊपर उठकर तीसरे पक्ष में है। 'बिगुल' वालों द्वारा आरक्षण बारे तीसरे पक्ष की अवस्थिति अख्तियार करना भी कुछ ऐसा ही है। प्रश्न है कि जब 'बिगुल' वालों का आकलन है कि वर्तमान व्यवस्था में अतीत की जाति व्यवस्था के मात्र अवशेष ही नहीं बल्कि यह एक 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' है यानी जातियां इसके आधार का हिस्सा है और अधिरचना में इसकी प्रचंड पकड़ है; जातिगत उत्पीड़न और भेदभाव भारतीय समाज का सर्वाधिक बुनियादी मुद्दा है; देश के दलितों का घोर उत्पीड़न और अपमान हो रहा है; वे आए दिन जघन्य हमलों के शिकार हो रहे हैं व उनके घर जलाए जा रहे हैं, दलित बहू बेटियों पर यौन हमले बढ़ रहे हैं आदि आदि, तो फिर इस 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' के आधार और अधिरचना में घुले मिले जातिगत अन्याय, अत्याचार और असमानता के मौजूद रहते हुए भी जातिगत आरक्षण के पक्ष में न होकर 'तीसरे पक्ष' की अवस्थिति को अपनाना कहां तक न्यायसंगत और जनवादी है? यदि वर्तमान व्यवस्था जैसा कि 'बिगुल' वालों का मानना है एक 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' है तो फिर क्या इनकी आरक्षण बारे नीति यह नहीं होनी चाहिए कि जब तक यह व्यवस्था एक 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' रहेगी तब तक इस 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' में ये जातिगत आरक्षण के पक्ष में रहेंगे? तीसरे पक्ष में नहीं। यदि इस 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' में केन्द्र सरकार आरएसएस आदि के दबाव में आकर या अन्यथा जाति आधारित आरक्षण को खत्म करने के लिए कानून बनाने लगे और देश के दलित उसके खिलाफ विरोध में सड़कों पर उतर आएं तो 'बिगुल मजदूर दस्ता' इस स्थिति में क्या पोजीशन लेगा? क्या वे उस आंदोलन के पक्ष में नहीं आएंगे? और इस 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' में जब-जब ऐसा होगा क्या तब-तब वो वैसा ही नहीं करेंगे? यदि वे इस प्रकार के दलित आंदोलनों के हर बार पक्ष में ही आते रहेगें तो फिर तीसरे पक्ष का क्या बना? स्पष्ट है कि 'बिगुल' वालों को या तो वर्तमान व्यवस्था के एक 'पूंजीवादी जाति-व्यवस्था' के रूप में आकलन का परित्याग करना होगा नहीं तो उन्हें आरक्षण के संबंध में अपनी अवस्थिति के 'तीसरे पक्ष' का परित्याग करना होगा। और यदि ऐसा नहीं किया जाता तो इस विरोधाभासी अवस्थिति के पीछे जरूर इनका कोई ऐसा मकसद है जिस पर ये पर्दा डाले रखना चाहते हैं।

कार्यक्रम बारे आलोचना: विचार गोष्ठी में पेश किए गए पर्चे पर 'बिगुल' के साथी अजय ने एक आलोचना और भी रखी थी और वह यह थी कि बहस के लिए प्रस्तुत किए गए पर्चे में जाति-उन्मूलन के कार्यक्रम बारे कुछ खास नहीं कहा गया है। यहां पर बहस के लिए जारी किए गए पर्चे में कार्यक्रम संबंधी अंश को दोहरा दिया जाना उचित होगा, जो निम्न प्रकार से है:

"हम समझते हैं कि देशभर में दलित समुदाय के लोग विभिन्न स्तरों पर पूंजीवादी संसदीय राजनीति के मोह से मुक्त होकर, युक्तितर्क पर आधारित वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर अपने ऐसे संगठन बनाएं जो जनवाद के लिए लड़ें यानी ब्राह्मणवादी-हिन्दुत्ववादी विचारधारा, हिन्दू देवी-देवताओं और अवतारों के प्रभाव से अपने को मुक्त करने का

संघर्ष चलाएं; हिन्दुत्ववादी शक्तियों के हमलों के खिलाफ संगठित होकर लड़ाई लड़ें और इस लड़ाई में अन्य जातियों के तमाम समानता के पक्षधर मजदूरों-मेहनतकशों को, मजदूर यूनियनों को अपने साथ जोड़ें तथा गैर-दलितों के अन्य भरोसेलायक संगठनों के साथ मोर्चा कायम करें ताकि जाति उन्मूलन, सामाजिक अत्याचार और साथ ही साथ आर्थिक शोषण के विरुद्ध लड़ाई को व्यापक रूप दिया जा सके। बाबा साहब ने भी कहा था कि दलितों के दो शत्रु हैं: ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद। जन संघर्ष मंच हरियाणा इस प्रकार की लड़ाई और एक्के के लिए पहले से ही प्रयासशील और संघर्षरत है।"

हम समझते हैं कि दलित मुक्ति संघर्ष की दिशा का ऊपर दी गई पंक्तियों में जो कार्यक्रम दिया गया है वह बेशक संक्षिप्त है लेकिन इसमें संघर्ष की शक्तियां, संघर्ष के मुद्दों, संघर्ष की प्रक्रिया और उसकी दिशा का पर्याप्त संकेत है।

एक स्पष्टीकरण: जैसाकि आरंभ में ही बताया गया है कि विगत 14 मार्च को अंदरूनी विचार विमर्श के लिए एक पर्चा तैयार किया गया था जो कि मंच के चुनिंदा साथियों के अलावा एक दो अन्य संगठन के साथियों को भी नजरेसानी के लिए दे दिया गया था, उसमें हमसे एक गलती हो गई थी और वह यह कि हमने 'बिगुल मजदूर दस्ता' पर वर्ग अपचयनवादी होने का आरोप लगा दिया था। इस गलती का कारण उन्ही के प्रकाशन *जातिप्रश्न और मार्क्सवाद* में अरविंद न्यास के न्यासी मंडल द्वारा दिए गए आधार लेख में एक जगह अस्पष्टता थी। लेख का वह अंश निम्न प्रकार से है:

"हम दलित जातियों के अलग संगठन बनाने को तो गलत मानते हैं, लेकिन कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के पास यदि पर्याप्त ताकत हो तो उन्हें अलग से जाति उन्मूलन मंच अवश्य बनाने चाहिए, जिसमें दलितों के अलावा अन्य जातियों के जनवादी चेतना वाले नागरिक शामिल हों। यह मंच लगातार जाति-विरोधी प्रचार सभाएं करेगा, पुस्तक-पुस्तिकाएं निकालेगा, आयोजन-समारोह करेगा, अंतरजातीय विवाह (intercaste marriages) आयोजित करेगा और दलित उत्पीड़न की घटनाओं का सक्रिय विरोध करेगा।" ((जाति प्रश्न और मार्क्सवाद, जनवरी 2014, पृष्ठ 97, रेखांकन जोड़ा गया)

रेखांकित शब्दों से हमने यह समझा कि न्यासी मंडल किसी के भी द्वारा (यानी दलितों के द्वारा भी) दलित जातियों के संगठन बनाने को गलत मानता है, जैसा कि एसयूसीआई (सी) के संस्थापक महामंत्री शिबदास घोष मानते हैं। बाद के विचार विमर्श से बात स्पष्ट हुई कि असल में न्यासी मंडल का यह कथन यानी दलित जातियों का अलग संगठन बनाने की वर्जना शायद स्वयं उनकी पार्टी तक सीमित है और दलितों द्वारा खुद अपने संगठन बनाए जाने पर यह बात लागू नहीं होती। यानी पहले हम समझे थे कि खुद दलितों द्वारा दलित जातियों के संगठन बनाने को भी वे गलत मानते हैं। हमारी ऐसी समझ का एक दूसरा कारण यह भी था कि देश में जब कोई भी कम्युनिस्ट पार्टी अथवा ग्रुप अपने पार्टी के जन-संगठन के तौर पर जातियों पर आधारित दलितों के संगठन बनाने की बात ही नहीं करते तो फिर 'बिगुल मजदूर दस्ता' को अपनी ओर से यह सफाई देने की जरूरत ही क्यों पड़ी कि "हम दलित जातियों के अलग संगठन बनाने को तो गलत मानते हैं"। जो भी हो इस जारी किए जा रहे पर्चे से वह अंश हमने हटा दिया है। अब यदि कोई हमारे नाम से 'बिगुल मजदूर दस्ता' के खिलाफ वर्ग अपचयनवाद के लगाए गए दोष को उस पर्चे के मार्फत

इस्तेमाल करता है तो वह गलत होगा। और आलोचना के लिए हमारा अब यही पर्चा प्रमाणिक माना जाएगा। यहां एसयूसीआई (सी) के संस्थापक महामंत्री शिबदास घोष को पुस्तक से वह अंश भी उद्धृत किया जाना उचित होगा जो शुद्ध वर्ग अपचयनवाद का ठोस नमूना है और जिसके साथ न्यासी मंडल के लेख का उक्त अंश मेल खाता हुआ दिखाई पड़ता है। अपने आप को एकमात्र क्रांतिकारी पार्टी होने का दावा करने वाली पार्टी 'एसयूसीआई (सी)' के संस्थापक महामंत्री शिबदास घोष दलितों के अपने जाति आधारित संगठनों के बनाए जाने पर घोर आपत्ति, ऐसे संगठन बनाने वालों की घोर आलोचना तथा उन पर फटकार लगाते हुए लिखते हैं:

"...जैसे, एक समय ब्राह्मण लोग तथाकथित नीची जाति के लागों को शास्त्र की बातें बताकर शोषण करते थे-यह जातिवाद (casteism) था। फिर, जिन लोगों ने ब्राह्मणों के खिलाफ तथाकथित नीची जाति के लोगों को उत्तेजित कर जाति के आधार पर उन्हें संगठित करके ब्राह्मणों को रोकने का प्रयास किया वे भी तो विपरीत अर्थ में जातिवाद (casteism) की ही हवा बहाए। इसे क्या कोई वर्ग-संघर्ष कहेगा?" (भारत में एस.यू.सी. ही एकमात्र साम्यवादी पार्टी क्यों? संस्करण 1अगस्त 1982, पेज 120, रेखांकन जोड़ा गया)

शिबदास घोष के भाषण से उद्धृत किया गया यह अंश वर्ग अपचयनवाद का निकृष्ट नमूना तथा उसकी ठोस और सुस्पष्ट अभिव्यक्ति है। शिबदास घोष भारतीय समाज में महज पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच वर्ग-संघर्ष को जानते हैं तथा दलित मुक्ति एवं जाति-उन्मूलन संघर्ष के लिए उनकी सोच में कोई स्थान नहीं। शिबदास घोष के इस वर्ग अपचयनवादी दृष्टिकोण के मुताबिक दलितों को अपने खुद के संगठन बनाने का कोई अधिकार नहीं और यदि ऐसा होता है तो यह जातिवाद के अलावा और कुछ नहीं। उनके मुताबिक दलितों को खुद अपने संगठनों से निहत्थे रहकर महज उनके द्वारा बनायी गई 'एकमात्र कम्युनिस्ट पार्टी' एसयूसीआई (सी) पर निर्भर रहना चाहिए और उसी पर पूरा भरोसा रखते हुए चलना चाहिए बेशक इस पार्टी की शाखाएं देश के 95 फीसदी भाग पर मौजूद ही न हों। और यही बात उन तमाम पार्टियों पर भी लागू होती है जो दलितों को अपने ऊपर होने वाले अन्याय अत्याचार के विरुद्ध अपने संगठन बनाने के अधिकार से वंचित रखना चाहती हों।

जुलाई 11, 2018

(जारी कर्त्ता: फूल सिंह, प्रदेशाध्यक्ष जन संघर्ष मंच हरियाणा, फोन नं. 9466488031)